वेदों का महत्व
और
उनके प्रचार के उपाय

: लेखक :

युधिष्ठिर मीमांसक

मीमांसक-लेखावली

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा

(वेदविषयकः प्रथमो भागः)

[पं०-युधिष्ठिर-मीमांसक-जन्मशती-संस्करण]

@vaidicbooks

लेखकः-
युधिष्ठिरो मीमांसकः

समर्पण

जिस ने मुझे जन्म दिया, और
स्वीय ब्राह्मण कुल परम्परा के अनुसार
गुण-कर्म-स्वभाव से वेदपाठी ब्राह्मण बनाने का
दिव्य संकल्प संजोया
परन्तु अकाल में स्वर्गगामिनी होते हुए भी
अन्त समय में मेरे पितृ-चरण से
'एकाकी रह जाने पर मोह वश
युधिष्ठिर को गुरुकुल
भेजने के सङ्कल्प में
ढील न देने का
वचन लिया'

जिसका अन्तिम वचन मुझे सदा प्रेरणा देता रहा

उस
जन्म-दात्री, जन्म-निर्मात्री
माता यमुना देवी
की
पावन-स्मृति
में
यह पत्र-पुष्प
समर्पित
है।

@vaidicbooks

लेखकीय वक्तव्य

अध्ययनकाल और आश्रम का यायावरत्व

मेरे माता-पिता की यह बलवती आकाङ्क्षा थी कि वे मुझे अपने कुल के अनुसार सच्चा वेदपाठी ब्राह्मण बनावें। मेरी माता तो इस मनः कामना को लेकर असमय में ही, जब कि मैं अभी आठवें वर्ष में था, स्वर्ग सिधार गई। परन्तु निधन से पूर्व उन्होंने मेरे पिता जी से जिन तीन बातों के लिये अपनी आकाङ्क्षा प्रकट की थी, उनमें एक यह भी थी कि--'अब आप अकेले रह जायेंगे, कहीं मोहवश युधिष्ठिर को गुरुकुल भेजना स्थगित न कर देना।' मैं उस समय माता के समीप में ही बैठा था, और मैंने माता का यह विचार स्वयं सुना था। उस समय तो मेरी अवस्था ऐसी नहीं थी कि मैं इसका महत्त्व समझता। परन्तु जब मैं बड़ा हुआ, तो मुझे वात्सल्यमूर्ति माता के बालकपन में सुने हुए उक्त शब्दों का ध्यान आया। ये शब्द मुझे सदा प्रेरणा देते रहे। पिता जी मेरी माता के स्वर्गवास के कारण २-३ वर्ष अन्यमनस्क से रहे, किन्तु सन् १९२१ में मुझे पूर्व निश्चय के अनुसार गुरुकुल भेजने का प्रयत्न किया। दुर्भाग्यवश अथवा सौभाग्यवश पिता जी मुझे गुरुकुल कांगड़ी, और गुरुकुल सान्ताकुञ्ज बम्बई में प्रवेश कराने में असफल रहे। उसकी विशेष कथा लिखने का यहां स्थान नहीं है।

अन्त में दैवी अनुकम्पा से 'आर्यमित्र' के मई वा जून १९२१ के अङ्क में श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के साधु आश्रम, पुल काली नदी, अलीगढ़ की विज्ञप्ति छपी। जिसमें कुछ छात्रों को शिक्षणार्थ भरती करने का उल्लेख था, और आर्षपाठविधि के अनुसार शिक्षण देने का निर्देश था। पिता जी ने आश्रम के आचार्य जी से पत्रव्यवहार करके मुझे ३ अगस्त १९२१ को गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, श्रद्धेय श्री पं० शङ्करदेव जी, एवं श्रद्धेय श्री पं० बुद्धदेव जी धार (म० प्र०) निवासी के चरणों में समर्पित कर दिया। कुछ मास पश्चात् आश्रम 'गण्डासिंह-वाला' अमृतसर चला गया। वहां उसका **'विरजानन्द आश्रम'** नाम रखा गया। २-३ वर्ष पश्चात् श्री पं० बुद्धदेव जी आश्रम से पृथक् हो गये।

दैवी घटनाचक्र को मनुष्य नहीं जानता। कुछ समय पश्चात् आश्रम की व्यवस्थापिका 'सर्वहितकारिणी सभा' में मतभेद उत्पन्न हो गया, और आश्रम की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। अतः सभा के झगड़ों से दूर रहने के विचार से दोनों गुरुजन चुने हुए १२-१३ विद्यार्थियों को ईश्वर भरोसे लेकर दिसम्बर सन् १९२५ के अन्त में काशी चले गए। वहां 'सप्तसरोवर' काशीदेवी के मठ के पास (बुलानाला) किराएं के मकान में रहे। लगभग ढाई वर्ष रहना हुआ कि पुनः दैवी घटना ऐसी घटी कि गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु हम ८-९ विद्यार्थियों को लेकर अमृतसर आ गए। श्री गुरुवर्य पं० शङ्करदेव जी किन्हीं कारणों से अमृतसर नहीं आए। इस बार स्थान-परिवर्तन का कारण अमृतसर के कागज के प्रसिद्ध व्यापारी श्री रामलाल कपूर का निधन, उनकी स्मृति में उनके सुपुत्रों द्वारा 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' की स्थापना, और उसके संचालन के लिए श्री गुरुवर्य को बुलाना हुआ। इस वैदिकधर्मप्रेमी परिवार के साथ गुरुजी का सम्पर्क गण्डासिंहवाला अमृतसर में रहने के काल में हुआ था।

इस बार अमृतसर में विद्यालय की स्थिति दुर्ग्याणा के समीप श्री रामलाल कपूर जी के "राम-भवन" में हुई। पूज्य गुरुवर्य जी को वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय में पूर्वमीमांसा के ज्ञान की कमी खटकती रहती थी। पिछले काशी-निवासकाल में मीमांसा के अध्ययन के लिये प्रयत्न भी किया था, पर पौराणिक पण्डितों की कट्टरता के कारण उस समय कृतकार्य नहीं हो सके थे। अतः लगभग ३॥ साढे तीन वर्ष के पश्चात् गुरुवर्य 'मीमांसा पढ़कर ही वापस लौटने' की प्रतिज्ञा करके हम लोगों को साथ लेकर पुनः काशी गए। काशी जाने से पूर्व मेरा महाभाष्यान्त व्याकरण और निरुक्त का अध्ययन हो चुका था। अतः काशी जाना मेरे लिए विशेष लाभकारी रहा। वहां न्याय वैशेषिक दर्शनों का विशेष, एवं सांख्यादि का सामान्य अध्ययन किया। पूर्वमीमांसा का अध्ययन श्री पूज्य गुरुवर्य ने मीमांसक-शिरोमणि श्रद्धेय श्री पं० चिन्न स्वामी जी शास्त्री एवं उनके जामाता पूज्य श्री पं० पट्टाभिराम जी से किया। इस समय पूज्य गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने परम औदार्य और महती निरभिमानता का परिचय दिया। वे हम दो तीन छात्रों को भी अपने साथ मीमांसा का अध्ययन कराने के लिए ले गए। और गुरुजनों की महती कृपा से मीमांसा के सदृश दुर्गम एवं अत्यन्त शुष्क विषय का

अध्ययन करने में मैं सफल हो सका।

मीमांसा का अध्ययन करके सन् १९३५ के अन्त में गुरु जी पुनः पंजाब लौटे। इस बार आश्रम की स्थिति लाहौर में रावी पार बारहदरी के निकट रामलाल कपूर परिवार के उद्यान में हुई। हम लोग समझे थे कि अब यहां आश्रम स्थायी रूप से विकसित होगा, परन्तु आश्रम के साथ तो उसके बाल्यकाल से ही स्थानान्तर-परिभ्रमण का दैवीचक्र काम कर रहा था। अतः यहां आकर भी उसका अन्त नहीं हुआ। अगस्त १९४७ में देशविभाजन के समय बलात् लाहौर छोड़ना पडा। मैं अजमेर चला गया। पूज्य गुरुवर्य की २ वर्ष यायावर की स्थिति रही। सभी साथी बिखर गये। अन्त में सन् १९५० में पुनः अजमतगढ पैलेस (मोती झील) वाराणसी में किराए का मकान लेकर आश्रम और ट्रस्ट के कार्य की व्यवस्था पुनः आरम्भ की। २३ दिसम्बर १९६४ को पूज्य गुरुवर्य का स्वर्गवास हुआ। अतः कतिपय विशिष्ट कारणों से पुनः काशी का परित्याग करना पड़ा। और अब जुलाई सन् १९६७ से बहालगढ़ सोनीपत-हरयाणा में आश्रम और ट्रस्ट के काम को पुनः व्यवस्थित किया है। यहां आश्रम की अपनी भूमि और कुछ भवनों की व्यवस्था हो गई है। दोनों कार्य मेरे तथा श्री पं० विजयपाल जी व्याकरणाचार्य के निरीक्षण में चल रहे हैं। आगे का वृत्त दैवाधीन है।

मेरे जीवन का भी यायावरत्व

मेरा जीवन भी आरम्भ से अन्त तक यायावरपन में ही बीता है। जन्मकाल से अध्ययनार्थ विरजानन्द आश्रम में प्रविष्ट होने तक पिता जी के यायावर जीवन से सम्बद्ध रहा। क्योंकि वे इन्दौर राज्य की पाठशाला में अध्यापक थे, उनका स्थानान्तरण होता रहता था। विरजानन्द आश्रम का यायावरत्व ऊपर प्रकट कर चुका हूं। उसके पश्चात् सन् १९३६ में गृहस्थ होने पर भी यायावरपन ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मैं १९३६ से १९४२ तक लाहौर में, १९४२ के अन्त से १९४६ के मध्य तक अजमेर में, १९४६ के मध्य से २ अगस्त १९४७ तक पुनः लाहौर में, देशविभाजन के पश्चात् अगस्त १९४७ से मार्च १९५० के अन्त तक अजमेर में, मार्च १९५० से अप्रेल १९५५ तक काशी में, अप्रेल १९५५ से १९५९ के मध्य तक देहली में, जून १९५९ से १९६० के अन्त तक टंकारा (सौराष्ट्र)

में कार्य करता रहा। सन् १९६१ में **अन्त तक अजमेर में रहने का निश्चय किया।** परन्तु दैवगति से पूज्य गुरुवर्य के स्वर्गवास के पश्चात् ट्रस्ट का कार्य सम्भालने के लिये जुलाई १९६७ में **बहालगढ़ (सोनीपत)** आना पड़ा। इससे पूर्व सन् १९६७ में लगभग ३-३॥ मास 'केन्द्रीय सांध्य पाणिनि महाविद्यालय' **भुवनेश्वर** का प्रधानाचार्यत्व भी निभाया। जलवायु के प्रतिकूल होने से मैं वहां अधिक नहीं रह सका। आगे की गति दैवाधीन है।

जीवन का लक्ष्य

माता-पिता एवं गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु की इच्छाओं को ध्यान में रखकर मैंने गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी ब्राह्मणवृत्ति से रहने का निश्चय किया। तथा उसी के अनुरूप अथवा अल्प बाधक कार्य करते हुए स्वाध्याय प्रवचन और लेखनकार्य में लगा रहा। परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से जहां मुझे श्रेष्ठतम माता-पिता और गुरुजन प्राप्त हुए, वहां इस जीवन की सहधर्मिणी भी ऐसी ही प्राप्त हुई, जिसके पूर्ण सहयोग से मैं अपने लक्ष्य के अनुरूप यथाशक्ति शनैःशनैः आगे बढ़ता रहा। लौकिक दृष्टि से भी दीन-बन्धु परम कृपालु देव की अनुकम्पा और गुरुजनों के आशीर्वाद से विना प्रयत्न यथाक्रम उच्च-उच्चतर-उच्चतम सम्मानाह स्थिति को प्राप्त होता रहा।

लेखन वा शोधकार्य में प्रवृत्ति

मैंने अपने जीवन में जो लेखन वा शोधकार्य किया है, उस पर जब दृष्टि डालता हूं, तो मुझे ऐसा लगता है कि जीवन के इस भावी कार्य के बीज का वपन भी आरम्भिक और अनजान अवस्था में सन् १९२६ के उत्तरार्ध में हो गया था। उस समय मैं अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति पढ़ रहा था। जिन घटनाओं से ग्रन्थों के पारायण वा स्वाध्याय की ओर मैं प्रवृत्त हुआ, वे अत्यन्त साधारण थीं। परन्तु उत्तरकाल में मेरे कार्य के लिए ये घटनाएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। वे घटनाएं इस प्रकार हैं—

१—सन् १९२६ में काशी म हमारे साथ ज्येष्ठ गुरुभाई पं० भद्रसेन जी भी अध्ययन करते थे। उन दिनों यह नियम बनाया गया था कि प्रति मास छात्रसभा होवे, और छात्र विभिन्न विषयों पर बोलें। इसी

क्रम में कभी-कभी किसी विषय पर वादविवाद भी रखा जाता था। पं० भद्रसेन[1] जी की आरम्भ से ही वैदिक-धर्म के प्रचार में विशेष रुचि थी। अतः उन्होंने वैदिक-धर्म के कई मन्तव्यों पर उपयोगी प्रमाणों का कुछ संग्रह कर रखा था। एक बार किसी विषय पर बोलने की तैयारी के लिए उन से प्रमाण-संग्रह की कापी मांगी, तो उन्होंने देने से इनकार कर दिया। इस पर मुझे भी रोष आ गया और मैंने उन्हें कह दिया कि अब मैं कभी आप से कापी नहीं मांगूंगा, स्वयं आप से अधिक प्रमाणों का संग्रह कर लूंगा। बस उस दिन से मैंने वैदिक-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रमाणों का संग्रह करने के लिए ग्रन्थों का पारायण आरम्भ किया। धीरे-धीरे ग्रन्थपारायण में रस आने लगा। उत्साह बढ़ता गया, और विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का पारायण[2] करना मेरे दैनिक जीवन का अटूट अङ्ग बन गया। जो लगभग १९६६ तक नियमित रूप से चलता रहा।

२—इसी काल में मेरे ज्येष्ठ भ्राता पं० इन्द्रदेव[3] जी एक दिन काशी के गुदड़ी बाजार से लीथो प्रेस की छपी दशपादी उणादिवृत्ति की एक प्रति ले आए। उस समय तक हम लोग उणादि के पञ्चपादी पाठ से ही परिचित थे। अतः भ्राता इन्द्रदेव जी द्वारा लाई गई दशपादी उणादि-

---

१. श्री पं० भद्रसेन जी सन् १९२८ में योग के शिक्षण के लिये लूनावाला (पूना के पास) चले गए। वहां से लौटकर वे अजमेर में स्थिर हो गए। योग वा व्याकरण आदि के अध्यापन के साथ वैदिक-धर्म के प्रचार का भी कार्य करते रहे। उनका लगभग दो वर्ष पूर्व निधन हो गया है।

२. मीमांसा के अध्ययन से पूर्व मैं विविध धर्मशास्त्रों वेद की उपलब्ध शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों आरण्यकों और उपनिषदों का पारायण कर चुका था। चारों वेदों के कई पारायण सम्पन्न हो गये थे। साथ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के सभी ग्रन्थों, पं० भगवद्दत्त जी के सभी ग्रन्थों, और आत्मानन्द आनन्दबोध जयतीर्थ आदि के वेदभाष्यों का अध्ययन कर चुका था। यह सारा पारायण और अध्ययन मीमांसा-शास्त्र के अध्ययन में अत्यन्त सहायक होता। यदि इन ग्रन्थों का अवलोकन न किए हुए होता, तो सम्भव है मीमांसा मेरे पल्ले न पड़ती।

३. आप लगभग २५वर्ष से 'घनश्यामदास वैदिक विद्यालय' देवरिया में प्रधानाचार्य पद पर कार्य कर रहे हैं। देशविभाजन से पूर्व भी बहुत वर्षों तक आपने इसी विद्यालय में कार्य किया था।

वृत्ति को देखकर मन में कुतुहल जागा। और प्रयत्न करने पर कुछ मास पश्चात् मुझे भी गुदड़ी बाजार से एक प्रति मिल गई।

पञ्चपादी और दशपादी उणादि के पाठों में सूत्रक्रम अत्यन्त भिन्न है। अतः मैंने कुतुहलवश ही पञ्चपादी उणादि के सूत्रपाठ पर दशपादी उणादिवृत्ति की पृष्ठसंख्या, और दशपादी उणादि के सूत्रों पर पञ्चपादी की सूत्रसंख्या अङ्कित कर ली। बस इस कुतुहलवश की गई तुलना से तुलनात्मक अध्ययन की नींव अनायास पड गई। और दशपादी उणादि वृत्ति के तुलनात्मक अध्ययन से उणादिसूत्रों और उनकी वृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन मेरा प्रिय विषय बन गया। इसके लिए मैंने सभी मुद्रित और यथासम्भव उपलब्ध हस्तलिखित वृत्तियों का संग्रह किया। विभिन्न उणादिपाठों की जितनी वृत्तियों का एकत्र संकलन मेरे पास है, उतना सम्भव है किसी बड़े से बड़े पुस्तकालय में भी न होगा।

श्री पं० भगवद्दत्त जी के साथ सम्पर्क

श्री पूज्य गुरुवर्य का श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर, अध्यक्ष अनुसन्धान विभाग लालचन्द पुस्तकालय, लाहौर के साथ पुराना सम्पर्क था। सन् १९२८ में अमृतसर आने पर पूज्य गुरुवर्य जी श्री पं० भगवद्दत्त जी से मिलने यदा कदा लाहौर जाते रहे। दोनों योग्य विद्वानों एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती के भक्तों का यह मिलन कुछ समय में ही गहन मित्रता में परिणत हो गया, जो अन्त तक बना रहा। कहा भी है—**अजर्यमार्य-सङ्गतम्**=श्रेष्ठ जनों की मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती, टूटना तो बहुत दूर की बात है।

सम्भवतः सन् १९२९ से पूज्य गुरुवर्य ने, जब उन्हें श्री पं० भगवद्दत्त जी से मिलने लाहौर जाना होता था, तो मुझे भी साथ ले जाना आरम्भ किया। इसमें पूज्य गुरुवर्य की निश्चय ही दूरदृष्टि कार्य कर रही थी, अन्यथा और छात्रों को भी साथ ले जाते। अस्तु ! सबसे प्रथम मुझे श्री पण्डित भगवद्दत्तजी का दर्शनलाभ तब प्राप्त हुआ, जब वे भाटी दरवाजे के बाहर (मुख्य सड़क पर) किराए के मकान में रहते थे। आरम्भ में मैं दोनों विद्वानों के शास्त्रचिन्तन को ध्यान से सुनता रहा। कुछ काल पश्चात् मैं भी बातचीत में भाग लेने लगा।

श्री पं० भगवद्दत्त जी ने मेरी अन्तर्निहित शक्तियों को पहचान कर

मुझे लेखन और सम्पादन कार्य में प्रेरित किया। अतः मैंने इस दिशा में जो कार्य किया है, मुख्य श्रेय श्री पं० भगवद्दत्त जी की प्रेरणा एवं उत्तरोत्तर दीयमान उनके सहयोग को ही है।

लेखन-कार्य का आरम्भ

मैंने लेख लिखना कब आरम्भ किया, इसका मुझे निश्चित ज्ञान नहीं है। अपने पुराने कतिपय मुद्रित लेखों के संग्रह में जो सबसे पुराना छपा हुआ लेख विद्यमान है, वह है **शङ्का-समाधान** शीर्षक लेख। यह २१ नवम्बर १९२९ के आर्यमित्र (साप्ताहिक) के अङ्क में छपा था। इसके साथ ही दो छपे हुए और एक हस्तलिखित लेख भी है। उनका समय इस प्रकार है—

१—**शङ्का-समाधान—यज्ञविषयक**, हस्तलिखित। २१ नवम्बर १९२९ के कुछ पश्चात्। यह लेख छपा वा नहीं छपा, यह ज्ञात नहीं।

२—**ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का संशोधन**—७ अगस्त १९३० के आर्यमित्र के अङ्क में छपा।

३—**महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत अष्टाध्यायी भाष्य**—२८ मई १९३१ के आर्यमित्र में छपा।

इसके पश्चात् पुनः लेखों का सिलसिला (संग्रह के अनुसार) २९ जनवरी सन् १९३९ से होता है।

सम्पादन-कार्य का आरम्भ

सन् १९३० के अन्तिम चरण में मैं निरुक्त का अध्ययन कर रहा था। उस समय देवराज यज्वाकृत निघण्टु टीका का भी अवलोकन किया। निघण्टु टीका में देवराज यज्वा ने तीन स्थानों पर किसी उणादिवृत्ति के विशिष्ट पाठ उद्धृत किए हैं। ये पाठ मुझे पूर्व उल्लिखित काशी में सम्प्राप्त दशपादी उणादिवृत्ति में उपलब्ध हो गये। इन पाठों को श्री पं० भगवद्दत्त जी को दिखाया। वे देखकर प्रसन्नता से उछल पड़े। अचानक इतनी पुरानी किसी उणादिवृत्ति का ज्ञान हो जाना, और देवराजयज्वा जैसे प्रामाणिक एवं प्राचीन व्यक्ति के द्वारा उसका उद्धृत किया जाना निश्चय ही अत्यन्त प्रसन्नता का विषय था। उन्होंने छूटते ही मुझे इस वृत्ति के सम्पादन का परामर्श दिया। मैं सम्पादन कार्य से प्रायः अनभिज्ञ था, और फिर इसकी तो एकमात्र यही अशुद्धि-बहुल प्रति

थी। परन्तु श्री श्रद्धेय पण्डित जी ने सहयोग देने का वचन दिया। उनके परामर्श और निर्देश के अनुसार मैंने सन् १९३१ के मध्य तक विविध ग्रन्थों के साहाय्य से इस वृत्ति के आधे भाग का सम्पादन कर लिया। बस इस कार्य से मेरी ग्रन्थ-सम्पादन कार्य में प्रवृत्ति हुई।

सन् १९३२ के आरम्भ में मीमांसा आदि के अध्ययन के लिए पुनः काशी जाना हुआ। वहां सन् १९३२ से ३४ तक के तीन वर्षों में लेखन और अनुसन्धान-सम्बन्धी दो प्रारम्भिक कार्य सम्पन्न हुए—

१—शोधपूर्ण निबन्ध-लेखन के रूप में सन् १९३२ में देहली में आयोजित प्रथम 'आर्य विद्वत् सम्मेलन' में पढ़ने के लिये मैंने प्रथम निबन्ध लिखा—**'क्या ऋषि मन्त्रों के रचयिता थे ?'**

२—प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के शोधसम्बन्धी कार्य का आरम्भ भी इसी काल में काशी में हुआ। दशपादी उणादिवृत्ति के सम्पादन का कार्य मैं आरम्भ कर चुका था। अतः इच्छा हुई कि काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान में संस्कृत विश्वविद्यालय) के 'सरस्वती भवन' पुस्तकालय में जो हस्तलेखों का संग्रह है, उसमें उक्त दशपादी वृत्ति के कोशान्तर की खोज करूं। साथ ही वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थों के खोज की भी इच्छा थी। अतः इन दोनों को ध्यान में रखकर मैंने 'सरस्वती भवन' के वेद और व्याकरण विषयक शतशः हस्तलेखों का अवलोकन किया। उस समय हस्तलेख विभाग के अध्यक्ष काशी के प्रसिद्ध विद्वान् **श्री पं० नारायण शास्त्री खिस्ते** थे। आप ने मुझे इस कार्य के लिए सभी सुविधाएं प्रदान कीं।

इस ग्रन्थावलोकन काल में 'सरस्वती भवन' के संग्रह में ही दशपादी उणादिवृत्ति का एक हस्तलेख मिल गया। और एक हस्तलेख का पता चला कि वह पूना नगरस्थ भण्डारकर प्राच्यविद्या-संस्थान में है। उसे श्री डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री, जो उस समय 'सरस्वती भवन' के मुख्य अधिकारी थे, ने मंगवा कर दिया। इस प्रकार दोनों हस्तलेखों के पाठ मिलाकर उनके पाठान्तर मैंने अपने ग्रन्थ पर अङ्कित कर लिए।

इसके पश्चात् विविध शोधपूर्ण निबन्धों वा ग्रन्थों के लेखन वा संपादन का जो कार्य आरम्भ हुआ, वह आज तक चल रहा है।

उपसंहार

मुझे लेख लिखने का चाव नहीं है। मैं किसी भी विषय पर तब तक

नहीं लिखता, जब तक कि मुझे उस विषय से आत्मसंतोष न हो जावे। अत एव मेरे सभी लेख प्राय: शोधपूर्ण हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी विविध प्रकार के हैं। सम्भवत: मेरे लेखों वा निबन्धों की संख्या सौ सवा सौ से अधिक रही होगी (इस में वेदवाणी का सम्पादक बनने अर्थात् सन् १९६५ के पश्चात् वेदवाणी में लिखे गये लेखों वा सम्पादकीय टिप्पणियों की गणना नहीं है)। मेरे पास जिन लेखों के मुद्रणपत्र संगृहीत हैं, उनकी संख्या लगभग ७५ है। इन में से कुछ चुने हुए विशिष्ट लेखों वा निबन्धों का संग्रह मैं दो भागों में प्रकाशित कर रहा हूं। प्रस्तुत भाग में वेद-विषयक लेखों वा निबन्धों का संग्रह है। द्वितीय भाग में वेदाङ्ग-विषयक लेखों वा निबन्धों का संग्रह होगा।

प्रकाश्यमाण लेखों वा निबन्धों का सम्प्रति पुन: परिवर्धन वा परिष्करण किया गया है। अत: ये पुराने होते हुए भी नवीन हो गए हैं। अन्तिम लेख तो पूरा ही नए सिरे से लिखा गया है।

शोधपूर्ण गहन लेखों वा निबन्धों के पाठक बहुत स्वल्प रह गए हैं। आर्यजनों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन अल्प हो रही है। अत: ऐसे गहन विषय के लेखों वा निबन्धों के संग्रह बहुत कम बिकते हैं। अत: केवल ५०० प्रतियां ही छपवाई हैं। कागज और छपाई की श्रेष्ठता पर विशेष ध्यान दिया है। इन दो कारणों से इस संग्रह की लागत अधिक पड़ने से मूल्य भी अधिक रखना पड़ा है।

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

विदुषां वशंवद:—
युधिष्ठिर मीमांसक

प्रस्तुत संस्करण

'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' का पूर्व संस्करण सं० २०३३ में मैंने स्वयं छपवाया था। प्रस्तुत परिवर्धित तथा संशोधित संस्करण 'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता' के ओर से प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संस्करण में पृष्ठ १५६-१७८ तक संस्कृत तथा हिन्दी में जो 'वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा' लेख छपा है वह पूर्व संस्करण में 'वेद-संज्ञा' तक ही सीमित था। इस संस्करण में 'श्रुति' और 'आम्नाय' संज्ञा पर भी विचार किया है।

इस संस्करण को छापने के लिए लगभग दो वर्ष पूर्व प्रेस में दिया था, परन्तु

वेदों का महत्त्व और उनके प्रचार के उपाय

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
ऋ० १०।७१।१॥

यह सब विद्वानों को विदित ही है कि हम वैदिक धर्मानुयायियों के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त सब संस्कार, अभ्युदय और निःश्रेयस् सम्बन्धी सब व्यवहार वेदों पर ही आश्रित हैं। अब भी धर्मप्रधान लोगों के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं। इसीलिये हमारे ब्राह्मणों ने अभी तक बड़े प्रयत्न से उनको ऐसे कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखा है कि जिससे उनमें एक स्थान पर भी स्वर-मात्रा-वर्ण का विपर्यास नहीं मिलता।

ऐसा होने पर यह विचार पैदा होता है कि—ऐसा क्या कारण है, जिससे वैदिक मत के अनुयायी प्रधानता से वेदों का ही आश्रय लेते हैं? यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार करें, तो हमें यह ज्ञात होता है कि पूज्य महर्षि ब्रह्मा से लेके स्वामी दयानन्द सरस्वती[1] पर्यन्त जो ऋषि मुनि और आचार्य हुये, उन्होंने—'वेद सब विद्याओं की, और वर्तमान भूत भविष्यत् के लिये उपयोगी ज्ञान की खान हैं' ऐसा माना है। वेदों में जिस प्रकार का सूक्ष्म और अनिन्द्रियगोचर (=जो इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता) ज्ञान है, उस प्रकार का और कहीं नहीं है।[2] इसलिये भगवान् मनु ने कहा है—

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

---

१. द्र०—"संस्कृत साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से होता है, और उसकी समाप्ति स्वामी दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पर होती है" (हम भारत से क्या सीखें—इसके तृतीय भाषण में, पृष्ठ १०२)।

२. द्र०—पदार्थ-ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है। पूना प्रवचन, पृष्ठ ४४ (स्वामी दयानन्द का वेदविषयक पांचवां व्याख्यान)।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यमप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥'

मनुस्मृति १२।१००, ९७, ९९, ९४ ॥

अर्थात्—'सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्ड का विधान, चक्रवर्ती-राज्य का शासन इन सब के लिये वही योग्य होता है, जो वेदशास्त्र को जानता है। भूत वर्तमान और भविष्यत् सब वेदों से ही सिद्ध होते हैं। जो सनातन वेदशास्त्र है, वही संसार के सब प्राणियों के लिये परम साधन है। पितर अर्थात् ज्ञानी और वयोवृद्ध विद्वान् और साधारण मनुष्य इन सब के लिये वेद ही सनातन चक्षु है। उसकी इयत्ता असीम है, यह वेदशास्त्र की स्थिति है।

इन सब विषयों को जानकर ही भगवान् मनु ने अन्यत्र भी घोषणा की है—'सर्वज्ञानमयो हि सः' (२।७), अर्थात् 'वेद सब ज्ञान से परिपूर्ण है[1]।'

इसी सिद्धान्त का भगवान् कृष्णद्वैपायन मुनि ने भी प्रतिपादन किया है—

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥'

महाभारत, अनु० १२२।४॥

अर्थात्—'लोक में जितने भी आगमशास्त्र (=विभिन्न विषयों के आद्य मूल-ग्रन्थ) और लोक-प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वे सब वेद के आधार पर ही आरम्भ हुई हैं।'

परम ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥'

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।१॥

अर्थात्—'वेदशास्त्र से भिन्न कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है। समस्त शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।

यदि इस तरह से वेद ही सब तरह के ज्ञान के निधि हैं, तो किस कारण महर्षि-

---

१. द्र०—मेधातिथि वा गोविन्द राज की मनुटीका।

गण उन-उन शास्त्रों का प्रवचन कर गये ? तो कहते हैं—

जब सर्गादि में अपरिमित शक्ति के प्रभाव से प्रभावित सामर्थ्यवाले, धर्मसत्त्व-शुद्ध तेज से युक्त[1], अपरिमित बुद्धिवाले, धर्म का साक्षात् किये हुये मानव थे, तब वे वेदों से ही सीधा सब तरह का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। उस समय वेद को छोड़कर अन्य कोई शास्त्र न था। जब उत्तरकाल में मानव क्रमशः सत्त्वहीन, प्रवर्धमान रजोगुण और तमोगुण से युक्त, अल्पमतिवाले, उपदेशों के द्वारा भी वेदों के मन्त्रों में विद्यमान विविध विद्याओं को जानने में असमर्थ हो गये, तब उस तरह के अल्प मेधावाले मनुष्यों को विविध विद्याओं का ज्ञान कराने के लिये विविध शास्त्रों का प्रवचन महर्षि लोगों ने किया।

इसी शास्त्रावताररूप इतिहास का भगवान् यास्कमुनि ने निरुक्त में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु[2]र्वेदं च वेदाङ्गानि च।' निरुक्त १।२०॥

अर्थात्—'सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ का साक्षात् दर्शन करनेवाले) ऋषि हुये थे। उन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ को साक्षात् न जानने वाले) मनुष्यों के लिये उपदेश से मन्त्रों के अर्थ जताए। उत्तरकाल के अथवा हीन-मेधावाले, उपदेश से ग्लानि करते हुये (=हमें उपदेशमात्र से वेद समझ में नहीं आता, ऐसा समझनेवाले) लोगों ने इस निघण्टु-निरुक्त ग्रन्थ का, और वेद तथा वेदाङ्गों का अभ्यास[2] किया।'

इसी इतिहास के अनुसार भगवान् याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

'दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्॥'

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।२॥

---

१. द्र०—पाराशरीय ज्योतिषसंहिता का वचन—'पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभा-प्रभाववीर्या ..... धर्मसत्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्वानां उपचीयमानरजस्तमस्कानां ।' (भट्ट उत्पल कृत बृहत्संहिताटीका, पृष्ठ १५ पर उद्धृत)।

२. मूलधात्वर्थानुसारी पदार्थ। यही अर्थ निरुक्तश्लोकवार्तिक में उपलब्ध होता है। अन्यों ने 'वेदों तथा वेदाङ्गों को बनाया' ऐसा अशुद्ध अर्थ किया है।

'जिनके लिये ज्ञान दुर्बोध्य हुआ, और जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिये सब वेदों से ज्ञान लेकर ऋषि लोगों ने शास्त्र बनाये।'

महाभारत (शान्ति० २८४।६२) में भी भगवान् वेदव्यास जी ने लिखा है—'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य', अर्थात् 'वेदों से वेदाङ्गों की रचना की।'

और भी—सम्प्रति शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थविज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तु-शास्त्र इत्यादि विषयों के जो मुख्य ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब अपने-अपने विषयों की वेदमूलकता की मुक्तकण्ठ से घोषणा करते हैं। विस्तारभय से कुछ ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट अपने ग्रन्थ के अन्त में 'ज्योतिष शास्त्र का मूल वेद है', ऐसा कहते हैं।

(२) आयुर्वेदशास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग है, ऐसा भगवान् सुश्रुत कहते हैं—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।' सू० अ० १॥

(३) पदार्थविज्ञानप्रतिपादक वैशेषिकशास्त्र भी वेद-मूलक है, ऐसी भगवान् कणाद मुनि प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।' वै० १।१।३॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः', अर्थात् 'अब धर्म का व्याख्यान करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करके तद्वचनात्=वैशेषिकप्रतिपाद्य पदार्थधर्म का प्रतिपादन करने से आम्नाय=वेद का प्रामाण्य है।

यहां यह भी जानना चाहिये कि भगवान् कणाद ने केवल 'वेद पदार्थधर्म के प्रतिपादक हैं' यह प्रतिज्ञामात्र ही नहीं की, अपितु कई प्रकरणों में विभिन्न पदार्थों के धर्मों का प्रतिपादन करने के लिये श्रुति-प्रामाण्य भी दर्शाया है। जैसे—

(क) ओलों की उत्पत्ति तेज के संयोग से होती है, ऐसा प्रतिपादन करके आकाश के पानी में तेज का संयोग होता है, इसका प्रतिपादन करते हुए 'वैदिकं च' (५।१।१०) सूत्र से वैदिक वचनों का प्रमाण दर्शाया है। यथा—

'या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु'।

तै० सं० ५।६।१॥

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।'

ऋ० १०।१२१।७॥

'वृषाऽग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्।' यजु० ११।४६॥

'योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः ।' ऋ० १०।३०।४॥

इन मन्त्रों में जलों में दिव्य अग्नि का संयोग दर्शाया है। इस विषय का प्रतिपादन वेदों के अनेक मन्त्रों में मिलता है।

(ख) शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज, ऐसा बताते हुए अतीन्द्रिय जो अयोनिज शरीर है, उसका प्रतिपादन करते हुए **वेदलिङ्गाच्च** (४ २।११) इस सूत्र से अयोनिज शरीर के प्रामाण्य के लिये निम्न वैदिक मन्त्र का संकेत किया है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृत ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥' ऋ०।१०।९०।१२॥

इस मन्त्र में 'अस्य' इस पद से 'विराट्' नामक पुरुष का परामर्श होता है। वही विराट् पुरुष वैदिकग्रन्थों के सर्ग-प्रकरणों में प्रजापति—हिरण्यगर्भ—सुवर्णाण्ड—महदण्ड आदि शब्दान्तरों से कहा गया है।

(४) न्यायसूत्रकार भगवान् गोतम भी अतीन्द्रियविषयक विज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले वेदभाग के प्रामाण्य को बताने के लिये कहते हैं—

''मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥' न्याय० २।१।६८॥

मन्त्रों में जो आयुर्वेद प्रत्यक्षरूप से उपदिष्ट किया गया है, उसके प्रामाण्य की सत्यता लोक में प्रसिद्ध है। उसके प्रमाणित होने से अतीन्द्रिय विज्ञान का प्रतिपादक वेदभाग भी प्रमाणित हो जाता है। क्योंकि जो आप्त ईश्वर प्रत्यक्षविषयभूत आयुर्वेद, जो वेद का ही एक विभाग है, का कर्ता है, वही इन्द्रियातीत विषय के प्रतिपादन करने वाले भाग का भी है। इसलिये एक कर्ता होने से अतीन्द्रियविषयक वेदभाग का भी प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ता है।

ऐसा सिद्ध होने पर यदि सब विद्याओं के आकरभूत वेदों को वैदिक-धर्मानुयायी प्राणों से भी प्रिय मानते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है?

अब वेदार्थ के विषय में कुछ लिखा जाता है। बहुत समय से वैदिक विद्वानों का वेद-प्रतिपाद्य विषय में मतभेद है। सायणाचार्य यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में लिखते हैं—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्।'

काण्वसंहिता-भाष्य के उपोद्घात में।

अर्थात् 'उस यजुर्वेद में दो काण्ड हैं - एक कर्मकाण्ड, दूसरा ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यक नामक जो ग्रन्थ है, वह ब्रह्मकाण्ड है। उसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण और संहिताभाग कर्मकाण्डविषयक हैं। इन दोनों में आधान अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमासादि कर्मों का प्रतिपादन होने से।'

इसी प्रकार अन्य वेदों के विषय में भी जानना चाहिये। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी कहा है—**'वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः'** इति। अर्थात् 'वेद का प्रयोजन यज्ञ है।' इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मन्त्र-संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड ही प्रतिपादित है।

यदि वेद का प्रयोजन केवल द्रव्ययज्ञों का ही सम्पादन करना है, तो प्राचीन महर्षियों ने वेद के सर्वविद्यामूलकत्व होने की जो घोषणा की थी, वह समाप्त हो जाती है। इसलिये पूर्वनिर्दिष्ट प्रमाणों के आधार पर **'वेद सब विद्याओं के आकर (=खान) ग्रन्थ हैं'** इस मत की रक्षा के लिये 'वेदमन्त्रों में अनेकार्थप्रतिपादन-शक्ति है' यह स्वीकार करना चाहिये। ऐसा होने पर ही वेदों का वास्तविक महत्व प्रकट हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वह मन्त्रों की अनेकार्थता स्वच्छन्द नहीं है, अपितु व्यवस्थित है। और वह व्यवस्था प्राचीन महर्षियो ने त्रिविध प्रक्रियाओं के रूप में स्थापित की है। उनके अनुसार एक अर्थ याज्ञिक, दूसरा आधिदैविक, और तीसरा आध्यात्मिक होता है।

प्राचीन महर्षि और वैदिक विद्वान् वेद के पूर्व-निर्दिष्ट त्रिविध अर्थ करते थे। इस विषय में कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१—भगवान् यास्क—**'वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम'** (ऋ० १०।७१।५) इस ऋग्वेद के अंश की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'अथं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा।' निरुक्त १।१९॥

इस यास्कीय वचन से दिव्यवाणी वेद के याज्ञिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक ये त्रिविध अर्थ होते हैं, ऐसा स्पष्ट है।

२—भगवान् यास्क ने केवल प्रतिज्ञा ही नहीं की, अपितु वे निरुक्त में वर्णित हुये सब मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या करते हुए 'सब मन्त्रों का आधिदैविकार्थ ही प्रधानभूत है' ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। यास्क अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक अर्थ और याज्ञिक अर्थ का भी निर्देश करते हैं। जैसे—

(क) **'एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि—काणुका'** (ऋ० ८।७७।४) इस ऋचा की व्याख्या करते हुए कहा है—

'तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते—त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि। तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः, त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति।' निरुक्त ५।११॥

अर्थात—'याज्ञिकों के मत में मन्त्र-निर्दिष्ट 'तीस सर' तीस उक्थसंज्ञक सोम ग्रह (=पात्र विशेष) हैं, और नैरुक्तों के मत में ३० पूर्व पक्ष तथा ३० अपर पक्ष के अहोरात्र हैं।'

(ख) 'गौरमीमेदनु' (ऋ० १।१६४।२८), और 'उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम्' (ऋ० १।१६४।२६) इन ऋचाओं के व्याख्यान में निरुक्तकार ने कहा है—

'वागेषा (गौः धेनुः) माध्यमिका, धर्मधुगिति याज्ञिकाः।' निरुक्त ११।४२॥

अर्थात्—'यह (गौ धेनु) माध्यमिक वाक् गौ है। याज्ञिकों के मत में यज्ञार्थ दोहन की जानेवाली गाय है।'

(ग) यत्रा सुपर्णाः' (ऋ० १।१६४।२१) मन्त्र के व्याख्यान में यास्कमुनि ने कहा है—

'यत्र सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मयः इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् - यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि इत्यात्मगतिमाचष्टे।' निरुक्त ३।१२॥

अर्थात्—'अधिदैवत पक्ष में 'सुपर्ण' आदित्य की रश्मियां हैं, और अध्यात्म में 'सुपर्ण' इन्द्रियां हैं।'

(घ) 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजु० ३४।५५) इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने कहा है—

'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, रश्मयः आदित्ये इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि इत्यात्मगतिमाचष्टे।' निरुक्ते १२।३७॥

अर्थात्—'अधिदैवत में 'सप्त ऋषि' सप्त सूर्य-रश्मियां हैं, और अध्यात्म में ६ इन्द्रियां (=५ ज्ञानेन्द्रियां और मन) और सातवीं विद्या है।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी अधिदैवत के साथ याज्ञिक तथा आध्यात्मिक व्याख्यान को भी भगवान् यास्क ने प्रदर्शित किया है। निरुक्त के १३वें तथा १४वें अध्याय के प्रायः सभी मन्त्रों का आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्यान मिलता है। इससे यास्क के मत में मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ प्रामाणिक होते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

@vaidicbooks

३—पूर्वनिर्दिष्ट यास्कीय मत को ही निरुक्त टीकाकार श्री स्कन्द स्वामी (=महेश्वर) विस्तार से प्रतिपादन करके उपसंहार करते हुए कहते हैं—

"सर्वदर्शनेषु (पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु) च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विष्यस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।"

निरुक्तटीका ७।५॥

अर्थात्—"सब पक्षों (याज्ञिक, अधिदैवत, और अध्यात्म) में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये। क्योंकि स्वयं भाष्यकार (=निरुक्तकार यास्क) ने सब मन्त्रों के तीन प्रकार के विषय बताने के लिये 'अर्थ को मन्त्ररूपी वाक् का पुष्प फल' कहा है। और यज्ञ आदि को पुष्प वा फल माना है।"

४—निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य ने भी 'मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं' ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसे—

क. 'आध्यात्मिकाधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते॥'

निरुक्तटीका १।१८॥

'आध्यात्मिक अधिदैवत और अधियज्ञ इन तीन विषयों को कहनेवाले मन्त्रों के अर्थ विदित हैं।'

ख. 'तत्र-तत्र एक एव ह्यसौ आदित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे च बुद्ध्यधिदेवतामूर्तः, स एव तत्रतत्रोपेक्षितव्यः।... अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति त एव रश्मयः; अधिदैवते च त एव विश्वेदेवा इत्युक्तम्। एवं तत्र-तत्र योज्यम्। प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेण।' निरुक्तटीका ३।१२॥

'[जहां-जहां विष्णु का कथन है,] वहां-वहां अधिदैवत में आदित्यमण्डल, और अध्यात्म में बुद्धि के देवतारूप आत्मा को ही जानना चाहिये। अधिदैवत में आदित्य की रश्मियां ही विश्वेदेव हैं, और अध्यात्म में हृदयाकाश से जो इन्द्रियां निकलती हैं, वे ही रश्मियां हैं। इस प्रकार मन्त्रार्थ की योजना करनी चाहिये। भाष्यकार ने यहां प्रकारमात्र का निर्देश किया है।'

ग. 'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः; नात्रापराधोऽस्ति।' निरुक्तटीका २।८॥

'आधिदैविक आध्यात्मिक और अधियज्ञ के आश्रित जितने अर्थ उपपन्न हो सकते हैं, उन सबकी योजना करनी चाहिये। ऐसा करना कोई अपराध नहीं है।'

@vaidicbooks

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों पर दुर्गाचार्य ने मन्त्रों की त्रिविध प्रक्रिया दर्शाई है।

५—वेदज्ञों में अलंकारभूत, शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि भी मन्त्रों के त्रिविध प्रक्रियागम्य अर्थ को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते।" महाभाष्यदीपिका ह० ले०, पृष्ठ २६८॥

अर्थात्—'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक शक्तिवाला होने से अधिदैवत अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य) नारायण और चषाल में स्वशक्ति से प्रवृत्त होता है।'

इसी तरह अन्य आचार्यों का मत भी इस विषय में प्रकाशित किया जा सकता है। पर विस्तारभय से रुकना पड़ता है।

कई मन्त्रों के बहुविध अर्थ भी पूर्वाचार्यों ने दर्शाये हैं। यथा—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) इस ऋचा के छः प्रकार के अर्थ यास्क मुनि ने दर्शाये हैं—

'कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थो व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः॥' निरुक्त १३।९॥

अर्थात्—'चार प्रकार की वाक्—(१) ओंकार और तीन महाव्याहृति, यह ऋषियों का मत है। (२) नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात, यह वैयाकरण मानते हैं। (३) मन्त्र, कल्प, ब्राह्मणग्रन्थ, व्यावहारिकी भाषा, यह याज्ञिक मानते हैं। (४) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और व्याहारिकीभाषा, यह नैरुक्तों का मत है। (५) सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तु सरीसृपों की, और व्यावहारिकी, यह कुछ आचार्य मानते हैं। (६) पशुओं की, तूणवों की, मृगों की और आत्मा की यह अध्यात्मवादियों का कथन है।'

इन सब बातों की अच्छे प्रकार समीक्षा करके निरुक्त की व्याख्या करनेवाले दुर्गाचार्य ने कहा है—

(क) 'अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीति ।' निरुक्तटीका १।२०।।

'वैदिक शब्दों की अभिधान-शक्ति क्षीण होने वाली नहीं है। पुरुषों की प्रज्ञा-शक्ति जैसी होती है, वैसे वैदिक शब्द अर्थों में परिणत होते हैं। वे सर्वतोमुख अनेक अर्थों को कहते हैं।'

(ख) 'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति ।।' निरुक्तटीका २।८।।

'मन्त्रों में अर्थों की सीमा नहीं है। ये महार्थ (=अनेक अर्थों से) युक्त है, और कठिनता से आते हैं। जैसे घोड़े पर चढ़नेवाले की विशेषता के अनुसार घोड़े तेज और तेजतर होते हैं, वैसे अर्थ करने वालों की प्रज्ञाशक्ति के अनुसार मन्त्र साधु और साधुतर अर्थ को प्रकट करते हैं।'

इन पूर्वाचार्यों के प्रमाणों से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेद केवल द्रव्यमय यज्ञ के लिये ही प्रवृत्त नहीं हुये हैं। वे सर्वविद्याओं और सर्वविध ज्ञानों की खान हैं। वहां जो आधिदैविक अर्थ है, वह साक्षात् विज्ञानपरक है, और वह भी अनेकविध है। उसका निदर्शन आगे किया है। आध्यात्मिक अर्थ भी आत्मा-शरीर-परमात्मा सम्बन्ध से तीन प्रकार से विभक्त हैं।

शेष जो याज्ञिक अर्थ है, वह भी बड़े महत्त्व का है। परन्तु जैसे आजकल के याज्ञिक लोग यज्ञ की व्याख्या करते हैं, उस तरह से इस तर्कप्रधान युग में वे अर्थ उनके महत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकते। वस्तुतः इसका कारण यज्ञप्रक्रिया के मूल के परिज्ञान का अभाव ही है। इसलिये यहां निदर्शनमात्र नित्यरूप से विहित श्रौतयज्ञों का वास्तविक प्रयोजन बताया जाता है—

वैदिक वाङ्मय के अनेक वार के परिशीलन से मैंने यह समझा है कि नित्यरूप से विहित अग्न्याधान से लेकर सहस्रसंवत्सरपर्यन्त साध्य (=होने वाले) जितने श्रौतयज्ञ हैं, वे इस ब्रह्माण्ड में सर्ग से लेकर प्रलयपर्यन्त जो अतीन्द्रिय यज्ञ निष्पन्न हुये वा हो रहे हैं, उनके स्वरूपों का ज्ञापन कराने के लिये प्रवृत्त हुये हैं। इस विराट् पुरुष=ब्रह्माण्ड में देवों=प्राकृतिक तत्त्वों के द्वारा जो यज्ञ किये गये वा किये जा रहे हैं, उनको ही आधार बनाकर पुरुषसूक्त का यह मन्त्र प्रवृत्त हुआ कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।। ऋ० १०।९०।१६।।

इस आधिदैविकयज्ञप्रतिपादक मन्त्र की व्याख्या यास्क मुनि ने इस प्रकार की है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनाजयन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः संसेध्यन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः!'

निरुक्त १२।४१॥

अर्थात्—'देवों ने यज्ञ से यज्ञ किया, देवों ने अग्नि से अग्नि का यजन किया। अग्नि पशु था, उसका आलम्भन किया, उससे यजन किया, यह ब्राह्मण का कथन है। वे यज्ञ ही प्रधान कर्म थे। उनसे देवों ने स्वर्ग पाया। जहां पूर्वकालिक यज्ञ कराने वाले देव थे। ये देव द्युस्थानीय देवगण हैं, ऐसा नैरुक्तों का मत है।'

जैसे वर्तमान काल में भूगोल-खगोलशास्त्र के ज्ञान के लिये उनके अनेक प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं, अथवा अतीन्द्रिय प्राचीन घटना व कथा का बोध कराने के लिये रंगमञ्च पर नाटक खेले जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के विज्ञान को प्राप्त कराने के लिये विविध श्रौतयज्ञों के विधान प्रवृत्त हुये हैं। इसलिये श्रौतयज्ञों के विधान को ठीक प्रकार से जानकर उनके प्रकृतिभूत ब्रह्माण्ड का विज्ञान अच्छे प्रकार जाना जा सकता है।

इसी परमोपयोगी श्रौतयज्ञतत्व को स्पष्ट करने के लिये याज्ञिक आधान-कर्म की क्रिया को बताकर वैदिक ग्रन्थों के उद्धरणों से ही उस आधान कर्म की व्याख्या की जाती है -

अग्न्याधान के लिये प्रथमतः वेदि का निर्माण किया जाता है। वेदि के निर्माण में यह प्रक्रिया है—यज्ञोपयोगी स्थान का निश्चय करके उस भूमि को थोड़ा खोदकर वहां प्रथम जल सींचा जाता है। तदनन्तर क्रम से वराहविहत मृत् (=वराह से खोदी हुई मिट्टी), वल्मीक (=दीमक की बांबी) की मिट्टी, ऊष अर्थात् क्षारयुक्त मिट्टी, बालू, शर्करा (=रोड़ी) इनको बिखेर, ईंटों को जोड़, सुवर्ण को रख, समिधाओं को रख, अरणी को घिस अग्नि का उत्पादन कर, वेदि में अग्नि का आधान किया जाता है।

इस अग्न्याधान-प्रक्रिया में, जब यह भूमि महान् अण्ड से अपनी सत्ता में आई, उस काल से लेकर जब तक पृथिवी के पृष्ठ पर अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक यह भूमि उत्तरोत्तर परिवर्तन को पाकर किन किन अवस्थाओं को पार करके प्रथमतः अपने ऊपर अग्नि को प्रकट करने में समर्थ हुई, यह विषय संक्षेप से बताया है।

सलिलमयी (=द्रवरूपी) भूमि में क्रमशः नव ९ सर्जन (अर्थात् विकार या परिवर्तन) हुये। इसका कथन ब्राह्मण ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।.....स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापं ऊषं सिकतं शर्करां अश्मानं अयोहिरण्यं ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।' श० ६।१।१।१३॥

अर्थात्—'फेन, सूखा द्रव्य, क्षार, वालू, शर्करा (=रोड़ी), पत्थर, लोहा, सुवर्ण, ओषधि-वनस्पति ये क्रम से नव ९ सृष्ट किये गये। इन ओषधि-वनस्पतियों ने पृथिवी को ढक दिया।'

जो यहां जल में नव ९ सृष्टि गिनाई है, उनमें फेनरूप सृष्टि का आधान में उपयोग नहीं किया जाता। अतः उसको छोड़कर अन्य द्रव्यों का आधान प्रक्रियानुसार वर्णन किया जाता है—

१—जब यह भूमि महदण्ड से अलग हुई और स्व सत्ता में आई, तब उसका स्वरूप सलिल=द्रवरूप था। इसलिये कहा है—'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शतपथ ११।१।६।१) अर्थात् आप ही पहले सलिलरूप थे, इस अवस्था को बताने के लिये यह वचन हुआ। भूमि की इसी अवस्था को बताने के लिये वेदि में पहिले जलसेचन किया जाता है।

२—अग्नि के संयोग से सलिल में फेन उत्पन्न हुआ। वही मरुतों के संयोग से घना[1] होकर मृद्भाव को प्राप्त हुआ। उस समय पृथिवी स्वल्प (=थोड़ी सी) ही थी। इसीलिये कहा है—

'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति।' श० ६।१।३।३॥

'यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद्वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।' मै. सं. १।६।३॥

इस श्रुति-बोधित अवस्था को दिखाने के लिये जल-सेचन के बाद वराह से खोदी हुई मिट्टी बिखेरी जाती है।

३—उसके बाद जब सूर्य के तेज से भूपृष्ठ ऊपरवाला मृद्द्रव्य शुष्क हो गया; तब शुष्कापोरूप सृष्टि हुई। इस अवस्था में उसके नीचे केवल जल ही था। उस

---

१. सोऽग्निमारुतसंयोगात् घनत्वमुपपद्यते। महा० शान्ति० १८२।१५। गरम दूध को ढक दिया जाये, तो मलाई नहीं जमती। इससे स्पष्ट है कि जमने में वायु का संयोग कारण होता है।

अवस्था को जताने के लिये—वल्मीक की मिट्टी को बिखेर कर अग्नि का आधान किया जाता है—'यद्वल्मीकवपामुपकीर्याग्निमाधत्ते' (मै. सं. १।६।३)।

वल्मीक की बांबी के नीचे जल रहता है, यह निश्चित सिद्धान्त है, इसीलिये धन्वदेश (=मरु-भूमि) में जल-गवेषक वल्मीक की बांबी के स्थान पर ही प्रायः कुआं खोदना बताते हैं।

४—तत्पश्चात् सूर्य के तेज से वही शुष्काप मृद्द्रव्य ऊषत्व (=क्षारत्व) को प्राप्त हुआ। वही ऊष=क्षाररूपी सृष्टि हुई। इसलिये ऊष को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है 'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते।' मै. सं. १।६।३॥

५—तत्पश्चात् वही ऊष=क्षार सूर्य के तेज से तप्त होकर बालू[1] बना। इसी लिये बालू को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते।' मै. सं. १।६।३॥

६—उसके पश्चात् वही बालू सूर्य के तेज से और भीतर की ऊष्मा से शर्करा (=रोड़ी) बनी। तब वह शर्करारूप सृष्टि हुई। इसीलिये शर्करा को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते।' मै. सं. १।६।३॥

शर्करा की उत्पत्ति से पृथिवी में जो वैशिष्ट्य उत्पन्न हुआ, वह भी वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया गया है—'यह [पृथिवी] पहले शिथिल (=ढीली) थी। उसको प्रजापति ने शर्करा से दृढ़ किया'—'शिथिरा वा इयं (पृथिवी) अग्र आसीत्, तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत।' मै. सं १।६।३॥

यह पृथिवी की दृढ़ता—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (ऋ. १०।१२१।५) इस मन्त्र में उपदिष्ट है।

७—तत्पश्चात् वही शर्करा अन्तरूष्मा से तप्त होकर [2]अश्मत्व (=पत्थरभाव) को प्राप्त हुई। वही अश्मसृष्टि हुई। इसीलिये चयन में—इष्टकाएं (=ईंटें) रखने का निर्देश है—'इष्टका उपदधाति'। तै. सं. ५।२।८॥

नियत प्रकारवाली वेदी में सुगमता के लिये ईंट का उपयोग किया जाता है। पत्थर को नियत आकार में परिणत करना कष्टसाध्य है। इसीलिये पत्थर के स्थान में ईंटें रखी जाती हैं।

---

१. द्र०—एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। स यदिहासीत् तस्यैतद् भस्म यत् सिकताः। मै. स. १।६।३॥

२. शर्करायां अश्मानम्, तस्मात् शर्करा अश्मैव भवति। शत. ६।१।३।३॥

८—पश्चात् वही पत्थर अन्दर की गर्मी से तप्त होकर लोहे से लेकर सुवर्ण तक की धातुओं को उत्पन्न करनेवाले हुये[1]। वही हिरण्यरूपा सृष्टि हुई। इसलिये (=हिरण्य=सुवर्ण) रखकर अग्नि का चयन करना चाहिये—'**हिरण्यं निधाय चेतव्यम्**[2]।'

९—इस तरह पृथिवी की रचना पूर्ण होने पर भी वह कछुये के पृष्ठ भाग (=पीठ) के समान बिना बाल की थी। पश्चात् ओषधि वनस्पतियों का उत्पादन हुआ। ओषधि-वनस्पतियां पृथिवी के लोम थे—

'**इयं वा अलोमिकेदाग्र आसीत्**।' ऐ ब्रा. २४।२२॥

'**ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि**।' जै. ब्रा. २।५४॥

पृथिवी की इसी अवस्था को बताने के लिये वेदी में लोम-स्थानीय समिधाएं रखी जाती हैं।

इस तरह नवमी ओषधि-वनस्पतिरूपिणी सृष्टि के पैदा होने पर वायु के वेग से वनस्पतियों की शाखाओं की रगड़ से पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथमतः अग्नि उत्पन्न हुआ। इसीलिये आधानार्थक यजुः का पाठ है—'**तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नाद-मन्नाद्यायादधे**' (यजु ३।५)।

इसी तत्त्व को बताने के लिये अग्न्याधान में अरणी [दो काष्ठों] की रगड़ से ही अग्नि का उत्पादन करते हैं। अन्य साधन से अग्नि को उत्पन्न नहीं करते।

इस अग्न्याधानप्रक्रिया के विवरण से स्पष्ट होता है कि ये श्रौतयाग प्रकृति के यागों का ही प्रधिनिधित्व करते हैं।

इसी प्रकार सायं-प्रातः किया जानेवाला अग्निहोत्र रात्रि-दिन का, दर्शपौर्णमास यज्ञ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का, चातुर्मास्य याग तीन ऋतुओं का, गवामयन यज्ञ दक्षिणोत्तरायण का, ज्योतिष्टोम संवत्सर का, सहस्रसंवत्सरसाध्य यज्ञ सहस्र चतुर्युग से सीमित सृष्टिकाल का प्रधिनिधित्व करता है। इस तरह इन श्रौतयज्ञों द्वारा अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय प्राकृतिक यज्ञ या क्रिया या घटनाचित्र के समान मूर्तरूप से आंखों के सामने उपस्थापित की जाती हैं, अथवा समझाई जाती है। इससे इन श्रौतयज्ञों के

---

१. अश्मनो लोहमुत्थितम्। महा. उद्योग.॥ रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा। त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते॥ रसार्णवतन्त्र ७।९९॥

२. मीमांसा शाबर भाष्य १२।१८ में उद्धृत। यही अर्थ 'रुक्ममुपदधाति' (मै. सं. ३।२।६) वचन का है।

अत्याश्चर्य-कारक परमोपयोगी प्रयोजन की व्याख्या स्पष्ट हो जाती है।

श्रौतयज्ञों को सृष्टियज्ञ के व्याख्यान वा नाटक मानने से पशुयज्ञविषयक पशुहिंसा की समस्या भी भली प्रकार सुलझ जाती है। जैसे—काव्य दो प्रकार के होते हैं—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य=नाटक। श्रव्यकाव्य जो इतिहासरूप होते हैं, उनमें युद्ध आदि के प्रसङ्ग, वा उनमें शत्रु का मारना आदि यथावत् प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु जब श्रव्यकाव्यगत ऐतिहासिक अंश दृश्य काव्य=नाटक में तथा रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, तब वधादि हिंसाकर्म का साक्षात् निरूपण वा दर्शन नहीं कराया जाता है। वध आदि पटप्रक्षेप आदि द्वारा सूचित किये जाते हैं। यह नाटक की अपनी विद्या है। सृष्टि यज्ञ में केवल पदार्थों का सर्जन ही नहीं होता, सर्जन के साथ किन्हीं का नाश भी होता है। इनमें सर्जनात्मक देवयज्ञ कहाते हैं, और ध्वंसनात्मक आसुर यज्ञ। श्रौतसूत्र-निर्दिष्ट पशुयाग सृष्टिगत आसुर यागों के ही निदर्शक हैं। इसलिये परम कवि मनीषी स्वयम्भू के श्रव्यकाव्यरूप सृष्टिकाव्य=वेद में सर्जनात्मक देवयज्ञों का और विनाशात्मक आसुरयज्ञों का यथावत् निदर्शन है। परन्तु जब उन्हें यज्ञरूपी नाटक के रूप में यज्ञवेदिरूप रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, तब लौकिक नाटकों के तुल्य ही उनमें साक्षात् पशुवध की क्रिया नहीं की जाती है। पर्यग्निकरण पर्यन्त कर्म करके उन्हें छोड़ दिया जाता है। इसीलिये आयुर्वेदीय चरक-संहिता में लिखा है—

'आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः। नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रवरकालं ····· पशवः प्रोक्षणमापुः ····· गवालम्भः प्रवर्तितः ·· अतिसारः प्रथममुत्पन्नः पूषध्रयज्ञे।' चिकित्सास्थान १९।४॥

पशुयज्ञों में आरण्य और ग्राम्य दोनों प्रकार के पशु होते हैं। उनमें आरण्य पशुओं का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्जन आज तक याज्ञिक करते चले आ रहे हैं। लिखा भी है—कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्। का० श्रौ० २०।६।९॥ इसी प्रकार पुराकाल में ग्राम्य पशुओं का भी उत्सर्ग होता था। यह ऊपर लिखे चरकसंहिता के वचन से स्पष्ट है।

जब श्रौतयज्ञों की 'सृष्टि-विज्ञान' ही पृष्ठभूमि है, तब याज्ञिक-प्रक्रिया के द्वारा किये जाने वाले अर्थ भी सृष्टि-विज्ञान के प्रतिपादक ही होते हैं। इसलिये वेदों का वैज्ञानिक अर्थ ही मुख्यार्थ है। 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' (=जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है) वचनानुसार सृष्टिविज्ञान की भी अध्यात्म में ही परिणति होती है। इसीलिये यह श्रुति प्रवृत्त हुई 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० १।१६४।३०)। उपनिषद् और गीता में भी कहा है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' । कठोप. २।१५।।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' । गीता १५।१५।।

अब शेष रह जाती है वेदार्थ की एक प्रक्रिया, जो 'व्यावहारिकी' कहलाती है। उसको भी वेदार्थ में वेदज्ञ प्रमाण मानते है। भगवान् मनु ने **'सेनापत्यं च राज्यं च'** इत्यादि पूर्व कहे हुये श्लोकों से राजनीति प्रवर्तन, वर्णाश्रमधर्म, वर्तमान भूत भविष्यत् के उपयोगी विधानों की कल्पना वेदों से ही सम्भव होती है, ऐसा कहा है। इन बातों को साक्षात् सीधे तौर पर बतानेवाले मन्त्र वेदों में नहीं मिलते। इन कर्मों के विधान को बतानेवाले अर्थ वेदों के व्यावहारिक अर्थ को लेकर ही संभव हैं। वह व्यावहारिकार्थ कहीं-कहीं साक्षात् प्रयुक्त उपमाओं के द्वारा, कहीं-कहीं लुप्तोपमा द्वारा, तथा कहीं-कहीं अन्य अलंकारों द्वारा प्रकट होता है। जैसे—

'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० १०।७१।४); **'विधवेव देवरम्'** (ऋ० १०।४०।२)।

यहां प्रथम मन्त्र में 'पत्नी ऋतुकाल में [शुद्ध होने पर] अच्छे कपड़े पहने'[1] ऐसा द्योतित किया है। दूसरे मन्त्र में यह बताया है कि 'पति के मरने पर विधवा अपने देवर से नियोग या विवाह कर सकती है।'

ऋग्वेद के प्रथममण्डलस्थ दो उषा के सूक्तों में वाचकलुप्तोपमालंकार द्वारा 'उषा के समान स्त्रियां कौन-कौन शुभगुणों से युक्त होवें' यह वर्णन किया गया है। इस विषय में स्वामी दयानन्द कृत ऋग्भाष्य से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

उषर्वद्धितसम्पादिके—ऋग्भाष्य १।४८।१२।। उषा के समान हित का सम्पादन करने वाली।

प्रभातवद्बहुगुणयुक्ते—ऋग्भाष्य १।४८।११।। प्रभात के समान बहुगुणयुक्त।

उषर्वत्कल्याणनिमित्ते—ऋग्भाष्य १।४६।१।। उषा के समान कल्याण की निमित्त।

उषर्वत्पुरुषार्थनिमित्ते—ऋग्भाष्य १।४६।३।। उषा के समान पुरुषार्थ की निमित्त।

इस तरह के ही सामाजिक अभिप्राय शास्त्रों में पारिभाषिक दर्शन' शब्द से कहे जाते हैं। यथा शाबर भाष्य (१।३।२) में लिखा है –

---

१. भार्या भर्त्रा शोभनवस्त्रादिभिः परितोष्या इति च। अन्यथा सुवासांसि सा कुतः सम्पादयेत् ?

(क) गुरुरनुगन्तव्यः, इत्यस्मिन्विषये—

"तथा च दर्शयति—'तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति।' (मै. सं. ३।१।३) इति।"

गुरु का अनुगमन करना चाहिये। इस विषय में इस वचन से ज्ञात होता है कि—'उत्तम के पीछे अधम चलता है।'

(ख) प्रपा प्रवर्तितव्या तडागं[1] च खनितव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शनं—'धन्वन्निव प्रपा असि' (तै० सं० २।५।१२) इति। तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति।' (तै० सं० १।६।११) इति।"

प्रपाओं (प्याऊ) का प्रवर्तन करना चाहिये, तालाब खुदवाने चाहिएं। इस विषय में—'इस मरुभूमि में प्याऊ के समान हो', तथा 'कृत्रिम ऊँची भूमि से जल का ग्रहण करते हैं' इन वचनों से उक्त अर्थ कहे जाते हैं।

(ग) शिखाकर्म कर्तव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"दर्शनं च—'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव।' (ऋ० ६।७५।१७) इति च।"

शिखा रखनी चाहियें। इस विषय में—'जहां बाण गिरते हैं, विविध शिखावाले कुमारों के समान' इस वचन से परिज्ञान होता है।

ऊपर उदाहृत वचनों के वास्तविक अर्थ तो उस-उस प्रकरण के अनुसार भिन्न-भिन्न ही हैं, परन्तु उन्हीं के द्वारा लौकिक कर्मों का भी विधान शबर स्वामी ने बताया है। इस तरह विविध अलंकारों के द्वारा वेदों के व्यावहारिक अर्थ भी किये जा सकते हैं।

वेदों के याज्ञिक आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ तो बड़े सूक्ष्म हैं। उनमें सब की बुद्धि प्रवेश नहीं कर पाती। परन्तु वेदों के व्यावहारिक अर्थ से तो साधारण लोग भी वैदिक शिक्षा के अनुकूल अपने जीवन को श्रेष्ठ और सुखी बना सकते हैं। इसको जानकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन मन्वादि ऋषियों से स्वीकृत मार्ग का आश्रय लेकर मन्त्रों का व्यावहारिक अर्थ प्रधानता से बताया है। इसीलिये उन्होंने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रतिज्ञा-विषय में कहा है—

'अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः संभवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति...।' ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३६२।

---

१. तडागोऽस्त्रीत्यमरः।

अर्थात्—'जिस-जिस मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थों का श्लेषादि अलंकारों से सप्रमाण संभव है, वहां-वहां उसके दो-दो अर्थ लिखेंगे। ···जहां निश्चय ही केवल व्यावहारिक अर्थ है····।'

याज्ञिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ प्राचीन महर्षिवर्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में जहां-तहां प्रदर्शित किये हैं। इसलिये उस तरह के अर्थ स्वामी दयानन्द ने साक्षात् नहीं किये। यह भी उन्होंने वहीं कहा है—

'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तिपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।' ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३६२॥

अर्थात्—'कर्मकाण्ड में विनियुक्त इन वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त जो-जो कर्तव्य कर्म करना होता है, उसका यहां (=इस वेदभाष्य में) विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों में यथार्थ विनियोग बता दिया है। उसके पुनः कथन से अनार्ष ग्रन्थों के समान पुनरुक्ति और पिष्टपेषण दोष की प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार वेदार्थ के विषय में कुछ कहकर, वेदों में प्रतिपादित किये गये अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म सृष्टि-विज्ञान के प्रतिपादक कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

महदण्ड=विराट् पुरुष की उत्पत्ति—परम पुरुष के सान्निध्य या ईक्षण से प्रकृति उत्तरोत्तर विपरिमाण को प्राप्त होकर भूतोत्पत्त्यनन्तर अण्डभाव[1] को प्राप्त हुई। मन्त्रों में यह अण्ड ही 'गर्भ' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। इस अण्डोत्पत्ति-विषयक अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं। परन्तु यहां दो ही मन्त्र उदाहृत किये जाते हैं—

---

१. समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में इस प्रकार के संख्यातीत अण्ड उत्पन्न होते हैं। विष्णु पुराण में कहा है—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटिशतानि च॥ वि० पु० २।६।२७॥

वायुपुराण में भी—अण्डानामीदृशानां तु कोटयो ज्ञेयाः सहस्रशः। १५१।४६॥

@vaidicbooks

'तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥'

ऋ० १०।८२।६॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'

ऋ० १०।१२१।१॥

इन मन्त्रों में स्मृत क-अज-हिरण्यगर्भ शब्दों से सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होने वाला महद् अण्ड कहा जाता है। वही आदिदेव-प्रजापति-सहस्रशीर्ष-पुरुष आदि पदों से स्मृत है। इस विषय में वायुपुराण के सृष्टि-प्रकरण के 'प्रकृतिक्षोभण' नामक पञ्चमाध्याय का चालीसवां श्लोक द्रष्टव्य है—

'आदित्वाच्चादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः ।
पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः ॥'

अर्थात्—प्रकृति का आदि=प्रथम विकार होने से 'आदिदेव', प्रकृतिरूप से अनादि होने से 'अज', और सब प्रजाओं (=अपने अन्तर्गत निष्पन्न होनेवाले सब लोकों) का पालक होने से 'प्रजापति' कहा जाता है।

इस अण्ड की उत्पत्ति आप (=जलतत्त्व) में अग्नि के प्रवेश से होती है। यह भी मन्त्र स्पष्ट कहता है—

'अग्निं या गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ।'

तै० सं० ५।६।१॥

अर्थात्—'जिन विश्वरूप धारण करनेवाले आपों ने अग्नि को गर्भ में धारण किया, वे सुखकारक होवें।'

इस विषय में वायुपुराण का निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य है—

'पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च ।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ॥' ४।७४॥

अर्थात्—'पुरुष=परब्रह्म से अधिष्ठित होने से, तथा अव्यक्त=प्रकृति के अनुग्रह से 'महत्' से लेकर 'विशेष'=पञ्चतन्मात्रा पर्यन्त=विकार अण्ड को उत्पन्न करते हैं।'

जब उस अण्ड में पृथिव्यादि लोक पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब वह अण्ड

अन्तरूष्मा के कारण तप्त होकर स्वर्ण समान हो जाता है। यही मनु जी ने कहा है—'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।' १।९॥

इस अवस्था को प्राप्त हुआ वह अण्डरूप गर्भ हिरण्याण्ड वा हिरण्यगर्भ शब्द से व्यवहृत होता है। उसी का वर्णन पूर्व उद्धृत 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०' मन्त्र में मिलता है।

पूर्णता को प्राप्त हुआ वह अण्ड कालान्तर में जब फूटा, उस समय द्यावापृथिवी दोनों अत्यन्त समीप में वर्तमान थे। इसी का कथन निम्न मन्त्र में किया है—

'जामी सयोनी मिथुना समोकसा।' ऋ० १।१५९।४॥

इस मन्त्र में 'जामी' इस विशेषण से द्यावापृथिवी की सहोत्पत्ति प्रकट होती है। 'सयोनी' पद से महदण्डरूप के एकयोनित्व, 'मिथुना' शब्द से परस्पर सहभाव, और 'समोकसा' पद से समान-निवासस्थान प्रकट होता है।

इसी मन्त्रगत 'समोकसा' पद का ब्राह्मणग्रन्थों में निम्न प्रकार व्याख्यान मिलता है—

'द्यावापृथिवी सहास्ताम्।' तै. सं. ५।२।३; तै. ब्रा. १।१३।२॥

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः।' शत० ७।१।२।२३॥

अर्थात्—'उस समय द्यौ और पृथिवी दोनों लोक साथ-साथ थे।'

कालान्तर में ये समान-निवास-स्थानवाले (द्यावापृथिवी) अलग हुये। उनकी पृथक्ता वा दूरी सूर्य के आकाश में चढ़ने से हुई। इसका वर्णन इस मन्त्र में किया है—'अग्न आयाहि वीतये।' साम. पू. १।१।१॥

इस मन्त्र की शतपथ में ऐसी व्याख्या की गई है—

'अग्न आयाहि वीतये इति। तद्वेति भवति वीतय इति समन्तकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्या हैव द्यौरास इति।' श० १।४।१।७॥

अर्थात्—'हे अग्ने! आओ [द्यावापृथिवी को] दूर करने के लिये। 'वीतये' से दूर होना अर्थ कहा है। आरम्भ (=उत्पत्तिकाल) में ये लोक समीप थे। द्यु लोक छूने योग्य था।'

इस मन्त्र में द्यावापृथिवी का दूर होना अग्नि के कारण हुआ है, ऐसा प्रतिपादन किया है। साथ-साथ वर्तमान द्यौ और पृथिवी इन दोनों का अलग होना—'इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्' इस ब्राह्मणग्रन्थ के वचन से भी विदित होता है।

सूर्य के द्यु अर्थात् आकाश में चढ़ने का वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है। जैसे 'इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आसूर्यं रोहयद् दिवि।' ऋ० १।७।२॥

अर्थात्—'इन्द्र ने विस्तृत प्रकाश के लिये सूर्य को द्युलोक में स्थानान्तरित किया।'

सूर्य और पृथिवी के दूर होने पर मध्य में अन्तरिक्ष बढ़ा। जैसा कि निम्न मन्त्र इसी तत्त्व का कथन करता है—

'यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥' ऋ० ३।२२।२॥

अर्थात्—'हे अग्ने! जो तुम्हारा द्युलोक में तेज है, और जो ओषधियों वा जलों में यजनीय अंश है, जिससे यह अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ है, वह प्रकाशरूप अर्णव (=समुद्र) प्राणियों की दृष्टि को देनेवाला है।'

द्यावापृथिवी के अलग होने से अन्तरिक्ष का प्रादुर्भाव होना ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वर्णित है—

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। तयोर्वियतयोरन्तरेणाकाश आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत्।' श० ७।१।२।२३॥

अर्थात्—'ये द्यु और पृथिवी लोक पहले साथ-साथ थे। उनके दूर-दूर होने पर जो मध्य में आकाश था, वही अन्तरिक्ष हुआ।'

अग्नि के कर्म से द्यावापृथिवी अलग हो गये। उनके अलग होने से अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ। इसीलिये उक्त मन्त्र में कहा है कि 'येना (अग्निना) न्तरिक्षमुर्वाततन्थ' (ऋ० ३।२२।२)।

द्यावापृथिवी के अलग होने में, 'सूर्य के दिव्यारोहण में, तथा अन्तरिक्ष के विस्तार में अन्य देवता भी सहायक हुये। इसलिये वेदों में अन्य देवताओं के भी ये कर्मत्रय कहे गये हैं।

मरुतों की किरणें—पृथिवी से लेकर द्यु पर्यन्त मरुतों का स्थान है। वे ४९ (=उंचास) संख्यावाले हैं। वे सात हरिवहों (सात घेरों) में विभक्त हैं। एक-एक गण में सात-सात संख्या में रहते हैं। इसलिये शतपथ में कहा है—"सप्तसप्त हि मरुतां गणाः" (श० ९।३।१।२५)। उनमें एक गण मरीचि[1] नाम का है। उन

---

१. सम्भवतः छठे परिवह के मरुत् मरीचि नामवाले हैं। उनके सान्निध्य से

मरीचि नाम के मरुतों के किरणें भी होती हैं। इसीलिये वेदों में अनेक स्थलों पर मरुतों का 'रुक्मवक्षसः' ऐसा विशेषण पाया जाता है। उनकी किरणों की सूर्य-रश्मियों के साथ उपमा की जाती है—'विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः' (ऋ० ५।५५।३)। उत्तर मन्त्र में सूर्य के समान ही मरुतों की चक्षण=दर्शनक्रिया कही गई है। जैसे—'आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्' (ऋ० ५।५५।४)। यजुर्वेद में 'वायुरसि तिग्मतेजाः' (१।२४) ऐसा पाठ है। शतपथ में इसकी व्याख्या में—'एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं पवते' (१।२।४।७) 'यह तेजों में अधिक तेजवाला है, जो वायु बहता है' ऐसा कहा है। इस वैदिक तत्त्व का निदर्शन ही गीता के 'मरीचिर्मरुतामस्मि' (१०।२१) (='मरीचियों=रश्मियों में मैं मरुतों की मरीचि हूं') वचन कहा गया है।

सहस्ररश्मि सूर्य—सूर्य में जो किरणें हैं, वे सहस्र प्रकार की हैं। सूर्यरश्मियों का सहस्रविधत्व ऋग्वेद में कहा गया है 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश' (६।४७।१८)। वैसे ही ब्राह्मण भी कहता है—"सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः' (जै० उप० ब्रा० १।४४।५)। महाभारत में भी कहा है—'यस्य रश्मिसहस्रेषु' (शान्ति० ३७२।३)। पुराणों में इन सहस्र रश्मियों का विस्तार से वर्णन मिलता है। (देखें—वायुपुराण ५३।१९-२३; मत्स्यपुराण १२८।१८-२२)।

ये ही सहस्रविध किरणें स्थूल रूप से सात विभागों में विभक्त की जाती हैं। इसीलिये सूर्य 'सप्तरश्मि' 'सप्ताश्व' आदि नाम से व्यवहृत होता है।

आदित्य-मण्डल में कालापन—आदित्य मण्डल के मध्य भाग में कालापन या कलंक है। इसीलिये वेदों में आदित्य को बहुधा "कृष्ण" शब्द से स्मरण किया गया है। जैसे—'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदन्' (ऋ० १।७९।२)। यहां 'कृष्ण' पद से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है और 'आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति' (ऋ० ४।१७।१४) इत्यादि में आदित्यरूप इन्द्र। इसीलिये जैमिनि ब्राह्मण में कहा है—

'असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् इति।' जै० ब्रा० ३।२८॥

अर्थात्—"जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसका जो प्रकाश करनेवाला भाग है वह 'संवत्' है। और जो 'कृष्ण' भाग है वह सर' है।"

नीचे ऊपर के पञ्चम और सप्तम परिवह में रहनेवाले मरुतों का भी वेद में रुक्मवक्षसः विशेषण मिलता है।

ये काले धब्बे या कलंक सदा गतिशील रहते हैं, एक जगह स्थिर नहीं रहते। इसीलिये इनको 'सर'[1] नाम से पुकारा गया है।

ये ही आदित्य-मण्डल में रहनेवाले काले कलंक चलते रहने से ही 'सर्प' कहलाते हैं। 'सर्पण' का अर्थ भी चलना है। आदित्य-मण्डल में सर्पों की सत्ता—'ये वामी रोचने दिवो··· ··· तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' (यजु० १३।८) इस मन्त्र में कही है। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थ भी कहता है—'सर्प्या वा आदित्याः' (तां० ब्रा० २५।१५।४)। कहीं-कहीं 'सर्पा वा आदित्याः' ऐसा पाठ भी है। अन्यत्र भी कहा है—

'फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम्।
वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना ॥'[2]

अर्थात्—'व्योम=आकाश में विचरण करनेवाले नागों के फूत्कार के विष से वर्षा में बरसनेवाला दिव्य जल भी अश्वि नक्षत्र के योग (=आश्विन मास) के विना विषयुक्त होता है, अर्थात् आश्विन मास का जल शुद्ध होता है, इसे गंगाजल भी कहते हैं।'

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अभी-अभी सूर्य-मण्डल में रहनेवाले कालेपन को जाना है। वैदिक विद्वान् तो वेदों द्वारा इस सिद्धान्त को आदि काल से ही जानते हैं। इसलिये कहा गया है कि सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान को बोध कराने के कारण ही वेदों का वेदत्व है। जैसा कि सायण ने अपने तै० सं० भाष्य के उपोद्घात में कहा है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥'[3]

अर्थात्—'प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जो [आध्यात्मिक वा आधिदैविक अतीन्द्रिय रूप] अर्थ नहीं जाना जाता है, वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।'

इस तरह वेद-ज्ञान का महत्त्व और उसके वैभव को बताकर, अब हम वेदों के प्रचार-प्रसार के कुछ उपाय बताते हैं—

वेदों के पुनः प्रसारण के उपायों पर विचार करने से पहिले यह जानना चाहिये

---

१. सरन्तीति सराः। पचाद्यच्।
२. शब्दचिन्तामणिकोषः (भा० १, पृ० ७९९) में गांग शब्द पर उद्धृत पद्य।
३. सायणाचार्यकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्य के उपोद्घात में उद्धृत श्लोक।

कि इसका क्या कारण है कि परम विद्याओं की खान होते हुये भी वेदों का प्रसार उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है ? रोग के निदान के विना चिकित्सा नहीं होती। इसलिये वेद-प्रसार का ह्रास क्यों हुआ, यह जानना आवश्यक है। इन कारणों में कुछ कारण भारतीय परम्पराजन्य हैं, और कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित हैं। उनमें भारतीय परम्पराजन्य कारण ये हैं—

प्रथम—वेदाध्ययन केवल अदृष्ट के लिये है, न कि किसी दृष्ट फल को प्राप्त करने के लिये।

इस मत का प्रसार होने से 'मन्त्र अनर्थक हैं'[1] इस मत का प्रादुर्भाव हुआ। इससे जो वेदों का मानव-जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से वेदाध्ययन को अनर्थक मानकर लोगों ने वेद का पठन-पाठन छोड़ दिया।

द्वितीय—वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुये हैं। उनके अतिरिक्त वेदों का और कोई प्रयोजन नहीं है।

इस मत के प्रादुर्भाव से वेदों के आधिदैविक आध्यात्मिक अर्थों के साथ विज्ञान का जो साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से निष्प्रयोजन भाव को प्राप्त हुये वेदाध्ययन को 'प्रयोजन के विना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता' इस न्याय के अनुसार लोगों ने छोड़ दिया।

तृतीय—यज्ञ भी केवल अदृष्ट के लिये है, उसका अन्य कोई लौकिक फल नहीं है।

इस मत के प्रसार से वेद का 'सृष्टि-विज्ञान का ज्ञापन करना' रूप मुख्य प्रयोजन छूट गया। और आजकल के श्रद्धारहित, केवल तर्कप्रधान लोगों ने उनसे विमुख होकर यज्ञों को छोड़ दिया। यज्ञकर्मों के लोप से ब्राह्मणवृत्ति का नाश, उसके नाश से वेदाध्ययन की प्रवृत्ति भी संकुचित हो गई।

चतुर्थ—स्त्रियों और शूद्रों को वेदों के सुनने का भी अधिकार नहीं,[2] तो फिर

---

१. द्र०— यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्रा इति (निरुक्त १।१५)। पूर्वमीमांसा (१।२।३१-३९) में इस मत को उपस्थित करके प्रौढ युक्तियों से इस मत का खण्डन किया है।

२. अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणं, वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति (वेदान्त-शाङ्कर-भाष्ये १।३।३८)। स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् इति च।

उनके अध्ययन की तो क्या कथा ?

स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन का प्रतिषेध करने से पत्नियां वेदज्ञान-रहित हो गईं। उनके वैदिक-ज्ञानरूप संस्कार के अभाव से वे अज्ञान आवृत्त हो गईं। इससे उनकी सन्तान भी वैदिक-संस्कार से रहित हो गई। इससे कुल नष्ट हो गये। शूद्रों के वेदों के श्रवणाधिकार को छीन लेने से वे भी वैदिक-संस्कारों से रहित होकर आर्य होते हुये भी अनार्य बन गये। इस प्रकार मानव-संख्या का स्त्रीरूप अर्धभाग तथा शूद्ररूप अन्य अर्ध भाग अर्थात् कुल मानव संख्या में ३/४ भाग ने वैदिक संस्कार-राहित्य के कारण अनार्यत्व को प्राप्त कर लिया। भगवान् मनु ने चेतावनी दी थी—

'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥ ३।६३॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ १०।४३॥

अर्थात्—'कुत्सित विवाहों, वर्णाश्रम की क्रिया के लोप, वेद के अनध्ययन, और ब्राह्मणों=वेदविद् विद्वानों के निरादर से कुल नष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे क्रियालोप से और वेदविद् ब्राह्मणों के अदर्शन से ये अंग बंग कलिङ्ग क्षत्रिय जातियां वृषल बन गईं।

जब क्षत्रिय जाति ने भी वेदों के अध्ययन से, और वैदिक क्रिया के लोप से वृषलत्व (शूद्रत्व) प्राप्त कर लिया, तब स्त्रियों की तो क्या ही कथा, जहां अज्ञान का ही एकछत्र साम्राज्य है।

पञ्चम—पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से तपोनिष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों की उपेक्षा तथा अनादर।

जगत् में यह साधारण नियम है कि 'समाज में जिस तरह के मनुष्य की पूजा होती है, उसी तरह का सब लोग अपने आपको बनाने में प्रवृत्त होते हैं'। इसलिये पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य भाव वा भाषा में दीक्षित धनी अनार्यों के प्रति सम्मान की भावनाओं के उदय होने से ब्राह्मण भी 'आंग्ल भाषाध्ययन से किसी न किसी तरह धनोपार्जन ही हमारे लिये श्रेयस्कर है' ऐसा मानकर कुल-परम्परागत वेदाध्ययन को छोड़ बैठे।

अब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित कारणों को, जिनसे वेद के प्रसार मे विशेष ह्रास हुआ, प्रस्तुत करते हैं—

प्रथम—अनेक ईसाईमत पक्षपाती मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों द्वारा अनुसंधान के बहाने से वैदिक वाङ्मय के विषय में कल्पित अनर्गल प्रलापों के द्वारा उसकी निन्दा और उसके विषय में अश्रद्धा उत्पन्न करना।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृतभाषा और वैदिक वाङ्मय के विषय में किस भाव को मन में रखकर प्रयत्न किया, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ वचनों को प्रस्तुत करते हैं। पहिले प्रसिद्ध तथा वैदिक वाङ्मय में विशेष परिश्रम करनेवाले मैक्समूलर के वचन देखिये—

(क) 'वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या ऐसी है, जो छोटे बच्चों की बात के समान मूर्खतापूर्ण हैं। अनेक जटिल, अधम और साधारण हैं।'[1]

(ख) 'मेरा अनुवाद, मेरा (सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का) संस्करण उत्तरकाल में भारत के भाग्य के विधान में अत्यन्त प्रभावशाली होगा। क्योंकि यह (= ऋग्वेद) उनके धर्म का मूल है। मैं निश्चय से यह अनुभव करता हूं कि भारतीय धर्म का यह मूल कैसा है, इसका बताना गत तीन सहस्र वर्षों से पैदा हुये प्रभावों को समूल उखाड़ देने में प्रधान उपाय है।'[2]

(ग) "संसार के सब धर्मों में 'नई प्रतिज्ञा' (ईसाप्रोक्त बाईबल) ग्रन्थ ही उत्कृष्ट है। उसके बाद आता है कुरान नामक ग्रन्थ, यह तो आचार-शिक्षा में 'नई प्रतिज्ञा' का रूपान्तर ही है। उसके बाद आती है 'प्राचीन प्रतिज्ञा' (=यहूदी बाईबल), दाक्षिणात्य बौद्ध पिटक, वेद और अवेस्ता ग्रन्थ।"[3]

(घ) मैक्समूलर के वैदिक वाङ्मय के कार्य को उनके मित्र किस दृष्टि से देखते थे, उसको बताने के लिये मैक्समूलर के ई० बी० पुसे नाम के मित्र ने जो पत्र मैक्समूलर को लिखा था, उसका निम्न वचन देखने योग्य है—

'आपका यह (वेदविषयक) कार्य भारतीयों को ईसाई मतानुयायी बनाने के लिये क्रियमाण प्रयत्नों में नवयुग का प्रवर्तक होगा।'

(ङ) अलबर्ट वेबर नामक प्राध्यापक ने लिखा—'कृष्ण का मत, जो सम्पूर्ण महाभारत में व्याप्त है, वह देखने योग्य है। वह ईसाई मत की कथाओं और अन्य पाश्चात्य मत के प्रभाव को स्थापित करता है। अर्थात् कृष्ण के मत पर ईसाई मत

---

१. मैक्समूलर का भाषण संख्या ४, सन् १८८२।

२. मैक्समूलर का स्वपत्नी को लिखे (सन् १८६६) पत्र का अंश।

३. यह अंश मैक्समूलर ने स्वपुत्र को भेजे पत्र में लिखा है।

की कहानियों तथा अन्य पाश्चात्य मत का प्रभाव दिखाई देता है।"[1]

(च) इसीलिये ईसाईमत पक्षपाती विद्वान् लोग 'महाभारत ग्रन्थ ईसा के बहुत पश्चात् लिखा गया' ऐसा लिखते हैं।

(छ) मोनियर विलियम्स नामक प्राध्यापक, जिसने संस्कृत-आंग्ल-भाषा का बृहद् कोश बनाया है, वह स्वकोश-रचना का प्रयोजन बताते हुये उसके उपोद्घात में लिखता है—

'यह जो संस्कृतांग्लभाषा-कोश के निर्माण का कार्य, तथा संस्कृत ग्रन्थों का अनुवादकार्य बोडन ट्रस्ट द्वारा सम्पादित किया जाता है, वह भारतीयों को ईसाई मत में दीक्षित करने के लिये प्रवृत्त हुये हमारे देशवासियों की सहायता के लिये किया जा रहा है।'

जब पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा किये कार्यों की ऐसी स्थिति है, तो कौन मूर्ख अनुसन्धानव्याज से किये गये मैक्समूलर आदि के कार्यों में विश्वास करेगा ?

द्वितीय—भाषाविज्ञान के बहाने दैवी भाषा तथा वैदिकवाङ्मय पर भीषण प्रहार करना।

पाश्चात्य विद्वानों ने कई भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके 'भाषा-विज्ञान' नामक एक नये मत का आविष्कार किया। यद्यपि वह अत्यन्त दोष पूर्ण है, तथापि उसके आश्रय को लेकर सर्व-भाषा-जननी दैवी भाषा को उसके गौरवमय स्थान से पदच्युत करके के लिये 'भारोपीय भाषा' (Indo Europeon Language) नामक एक नई भाषा की कल्पना की। उसके असिद्ध होने अर्थात् उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण न होने पर भी उसे वर्तमान भारोपीय भाषाओं की जननी मानकर ग्रीक लैटिन भाषाओं के समान उस 'कल्पित भाषा की पौत्री स्थानी दैवी वाक् है', ऐसे मत की घोषणा की है।

इतना ही नहीं—जैसे सामान्य मूर्ख लोग अज्ञान से वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण में सामर्थ्य न रखने के कारण शिष्टव्यवहृत शब्दों में वर्ण-लोप-आगम-विकार-विपर्यय आदि करते हैं, और कालान्तर में वही अपशब्दराशि भाषाभाव को प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार दैवी वाक् भी किसी पुरातन भाषा से विकृत होकर बनी है, ऐसा कहते हैं।

---

१. द्र०—संस्कृतसाहित्य का इतिहास (सुलभ संस्करण, सन् १९१४) पृष्ठ १८९ टिप्पणी।

कुछ अन्य लोग कहते हैं कि पुरानी किसी प्राकृत भाषा का ही संस्कार करके ब्राह्मण लोगों ने इस देववाणी (संस्कृत-भाषा) की रचना की है। अध्यापक रैप्सन कहता है—

'भारतीय आर्यों का लिखा हुआ वृत्तान्त उन साहित्यिक भाषाओं में सुरक्षित है, जो व्यावहारिक भाषाओं से विकसित हो चुकी थीं।'

तृतीय डार्विन प्रतिपादित विकासवाद के अनुसार सत्य भारतीय इतिहास का खण्डन करना वा उसे तोड़ना-मोड़ना।

जितना भारतीय इतिहास प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह सब एक मत से प्रतिपादन करता है कि—'सृष्टि के आदि में मानव परम ज्ञानी व अनेकविध शक्तियों से सम्पन्न थे, धर्म सत्त्व से युक्त और अत्यन्त दीर्घायु थे। उत्तरोत्तर ज्ञान शक्ति आयु में ह्रास होने लगा। लोग रजोगुण और तमोगुण से युक्त हो गये।' इसके विपरीत विकासवाद मत यह कहता है कि मनुष्य आदि काल में पशुओं के समान जङ्गल में रहनेवाले, मांसाहारी और अज्ञानी थे। उत्तरोत्तर वे विकास को प्राप्त होकर सभ्य बन गये। इतना ही नहीं मनुष्यों के पूर्वज वनमानुष थे, उनके पूर्वज बन्दर, उनके पूर्वज और कोई। इस तरह से सब प्राणी 'अमीबा' नामक प्राणी से उत्तरोत्तर विकसित होकर बने।'[1] इस मत का आश्रय लेकर ही पाश्चात्य विद्वान् वेदों को साधारण लोगों=गडरियों के गीत बताते हैं।

ये ही पाश्चात्य विकृत मत हमारे विश्वविद्यालयों में आज भी पढ़ाये जाते हैं। इस कारण विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये लोगों को वैदिक वाङ्मय में न केवल अश्रद्धा उत्पन्न होती है, अपितु वे ही कालान्तर में अनुसन्धान कार्य करते हुए वैदिक वाङ्मय के विषय में पाश्चात्य विद्वानों से भी हीनतर मतों को व्यक्त करते हैं। इसको बताने के लिये हम दो भारतीय विद्वानों का यास्क-निर्वचन-सम्बन्धी मत उपस्थित करते हैं—

(क) राजवाडे इस उपनाम से प्रसिद्ध काशीनाथ लिखते हैं—"निरुक्त की निर्वचन पद्धति ऐसी है कि उसे न विज्ञान कह सकते हैं, और न विद्यास्थान ·····। निरुक्त विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान का उपहास है।····· निरुक्त का निर्वचन प्रकार केवल भ्रम है, अथवा मानव-मस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है।·····मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि निरुक्त की निर्वचन-पद्धति अयुक्त (=मूर्खतापूर्ण) है। फिर भी वह आज तक वेदाङ्गत्व स्थान को प्राप्त है।····· निरुक्त में बहुसंख्यक

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, अ० २, पृष्ठ ५६-५७।

निर्वचन मूर्खता-पूर्ण हैं, क्योंकि वे अशुद्ध सिद्धान्त पर आश्रित हैं।.....इस सिद्धान्ताश्रय के कारण अनेक निर्वचन काल्पनिक हैं। शुद्ध निर्वचन तो बहुत ही अल्पसंख्यक है।"[1]

(ख) एक भाषाशास्त्री के रूप में ख्याति को प्राप्त हुए सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं—

"इससे ज्ञात होता है कि यास्क का निर्वचनप्रदर्शनोत्साह पागलपन की सीमा को प्राप्त हो चुका है।"[2]

"यास्क निर्वचनशास्त्र का उल्लङ्घनकर्ता था। उसके निर्वचन के पागलपन ने उसकी कल्पनाशक्ति को नष्ट कर दिया था। उसकी कल्पना की दरिद्रता विलक्षण है। इस गम्भीर दोष से वह न केवल व्यर्थ, शिथिल, सारहीन, अयुक्त निर्वचन ही करता है, अपितु यह भी विदित होता है कि वह इसको भी नहीं जानता था कि 'लक्षणादि से भी किन्हीं शब्दों के अर्थों का विस्तार होता है।' इसलिये उसने लाक्षणिक अर्थों के द्योतन के लिये भी पृथक् निर्वचन किये हैं।"[3]

इन उद्धरणों से अत्यन्त विस्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वान् ईसाई मत के पक्षपात से अनुसंधान के बहाने वैदिकवाङ्मय के विषय में जो प्रलाप कर गये, उसी के अध्ययन से भारतीय विद्वान् कैसी विचित्र मानसिक दासता को प्राप्त हो गये। ये विश्वविद्यालयों में पढ़े हुए विद्वान् पाश्चात्य आखों से ही वैदिक वाङ्मय को देखते हैं, इनकी अपनी आंख नहीं है। इसलिये ऋग्वेद में सत्य ही कहा है—'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः' (ऋ० १।१६४।१६)।

इस तरह वेद-प्रचार के ह्रास के कारणों को बताकर, उनके प्रतिकार के लिये कतिपय उपाय बताते हैं—

(१) वेदों की वैदिकवाङ्मय के प्रमाणों से ऐसी वैज्ञानिकी व्याख्या की जाये, जिससे आधुनिक तर्कप्रधान लोग वेदों में श्रद्धावान् होवें, और उसके अध्ययन में प्रवृत्त होवें।

(२) यज्ञों की भी ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या करनी चाहिये, जिससे वैदिक

---

१. द्र०—'काशीनाथ राजवाडे' द्वारा सम्पादित निरुक्त (पूनानगरस्थ भण्डारकर प्राच्यविद्यानुसंधानसंस्थान से प्रकाशित) भूमिका, पृष्ठ ४०-४३।

२. इटिमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ ३।

३. वही ग्रन्थ, पृष्ठ ८।

कर्मकाण्ड के विषय में पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षित सभी प्रकार के लोगों के हृदयों में विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो। यज्ञों के प्रचार से वेदाध्ययन में प्रगति होना निश्चित है।

(३) वेदों के अध्ययन और श्रवण का सब को अधिकार हो (जो वस्तुतः अधिकारी नहीं है, वह स्वयं ही उसके अध्ययन से दूर रहता है)।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत 'वेदाध्ययन में सब को अधिकार है' अत्यन्त प्रामाणिक है। इसीलिये वेदाधिकारनिरूपण प्रसङ्ग में श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी लिखा है—

"शूद्र के वेदाधिकार में साक्षात् वेदवचन भी स्वामी दयानन्द ने प्रदर्शित किया है—'यथेमां वाचं०' (वा० सं० २३।२) इत्यादि।"[1]

उक्त मत के अनुसार यदि शूद्रों और अतिशूद्रों को भी वेदज्ञान में अधिकार है, तो स्त्रियों ने क्या अपराध किया? द्विजपत्नी होने के कारण उनको वेदों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त-ही है। गार्गी, मैत्रेयी, वाचक्नवी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं, ये ब्रह्मवादिनियां वैदिक ग्रन्थों में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

"पूर्व काल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था, और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन भी करती थीं। यथा—

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च॥'[2]

स्त्रियों के उपनयन में मन्त्रप्रमाण भी है 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ० १०।१०९।४)।

शूद्रकुलोत्पन्न मातङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणत्व प्राप्ति इतिहास-ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। ब्राह्मणत्व-प्राप्ति वेदज्ञान के विना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इसलिये वेदाध्ययन से किसी को भी बलात् रोकना ठीक नहीं है। तभी 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (ऋ० ९।६३।५) इस मन्त्रानुसार सारे विश्व को वैदिक धर्मानुयायी बनाने में हम समर्थ हो सकते हैं। वेद का समस्त भूमण्डल में प्रसार हो, इस आकांक्षा से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाया—

---

१. ऐतरेयालोचन, पृष्ठ ७।

२. यह श्लोक निर्णयसिन्धु के तृतीयपरिच्छेद में 'इति यमोक्तेः' लिखकर उद्धृत किया है।

@vaidicbooks

'वेद सब सत्य विद्याओं का [आकर] ग्रन्थ हैं। वेदों का पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'

अहो ! दुःख की बात है ! वेद तथा वैदिक मत के प्रसार के लिये जिन्होंने स्व-जीवन का भी उत्सर्ग किया, ऐसे स्वामी दयानन्द के द्वारा जो आर्यसमाज प्रवर्तित हुआ, वही अपने आचार्य की आज्ञा की उपेक्षा करके अपने परमधर्म, जो कि वेदाध्ययन है, उससे अब पराङ्मुख हो गया है। इसलिये 'को वेदानुद्धरिष्यति' वेदों का कौन उद्धार करेगा ? यह प्रश्न अब विशेष रूप से उपस्थित है।

(४) पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ईसाई मत के पक्षपात से अनुसन्धान के बहाने वैदिक वाङ्मय की निन्दा करनेवाले जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनको विश्वविद्यालयों में पढ़ाना जिस प्रकार सर्वथा बन्द हो जाये, उस प्रकार का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जिससे वहां अध्ययन करनेवाले भावी विद्वान् वेदनिन्दक तथा वेदों की उपेक्षा करनेवाले न बनें।

(५) पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये भाषाविज्ञान, वैदिक देवशास्त्र, वैज्ञानिक इतिहासादि विषयों और विकासवाद को दृष्टि में रखकर भारतीय भाषा-संस्कृति-साहित्य-इतिहास इत्यादि विषयों में पाश्चात्य विद्वानों वा उनके अनुयायी भारतीयों ने जो अन्यथा प्रलाप किया है, उसके प्रचार के निरोध के लिये अपनी भारतीय दृष्टि से भाषा-विज्ञानादि विषयक ग्रन्थ निर्माण करने चाहियें। और पाश्चात्य मतों की प्रौढ आलोचना एवं उनका खण्डन करना चाहिये।

(६) वेदों तथा वैदिक वाङ्मय के प्रचार के लिये प्राचीन ग्रन्थों को छपवाने के लिये ऐसे उपाय किये जायें, जिनसे ये ग्रन्थ सुगमता से प्राप्त हों।

(७) वेद-प्रसार के लिए सुरभारती (संस्कृतभाषा) का प्रचार आवश्यक है। उसके विना वेद का प्रचार कभी नहीं हो सकता। अतः संस्कृतभाषा के प्रचार के लिये महान् यत्न करना चाहिये, जिससे कि यह हमारी राष्ट्रभाषा (संस्कृत) अपने वास्तविक पद को अलंकृत करे। इस हेतु सुगम रीति से संस्कृत-भाषा-शिक्षक ग्रन्थ निर्मित किये जावें, स्थान-स्थान में संस्कृत-पाठशालाओं की स्थापना हो और संस्कृत-भाषा के अध्ययन करनेवाले छात्रों के लिये छात्रवृत्ति तथा पुरस्कारादि का प्रबन्ध हो।

श्रौतमार्गं समुद्दिश्य श्रौतयज्ञस्य प्रक्रियाः।
व्याख्याता लेशतो ह्यत्र वेदविद्याप्रसिद्धये॥
प्रसाराय च वेदानां उपायाश्चेह दर्शिताः।
न तु मीमांसकख्यातिं प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानतः॥

मैं आशा करता हूं कि उपरिनिर्दिष्ट कतिपय उपायों से वेद के पुनः प्रसार में अवश्य सहायता मिलेगी।

मैंने श्रौतमार्ग को सन्मुख रखकर श्रौतयज्ञों की प्रक्रियाओं का यहां संक्षिप्तसा व्याख्यान वेदविद्या की प्रसिद्धि के लिये किया है। और वेदों के प्रसार के लिये उपाय भी दिखाये हैं। यह सब 'मैं मीमांसक नाम से प्रसिद्ध हूं' इस ख्याति के अभिमान से नहीं लिखा।

और अन्त में—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोह्यते॥

मैं वेदमार्ग का अनुयायी हूं, इसलिये कहीं मेरे द्वारा स्खलन प्रमाद वा भ्रान्ति होने पर भी मैं निन्दा के योग्य नहीं हूं। सन्मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति से स्खलन होने पर भी सत्पुरुषों द्वारा उसकी निन्दा नहीं की जाती है, अपितु उसका समाधान किया जाता है।

॥ ओं शम् ॥

वैदिक पुस्तकालय
PDF BOOKS